आधी दुनिया

वर्ष-30, अंक -4, अक्टूबर-दिसंबर 2024

महिला शिक्षण सामग्री

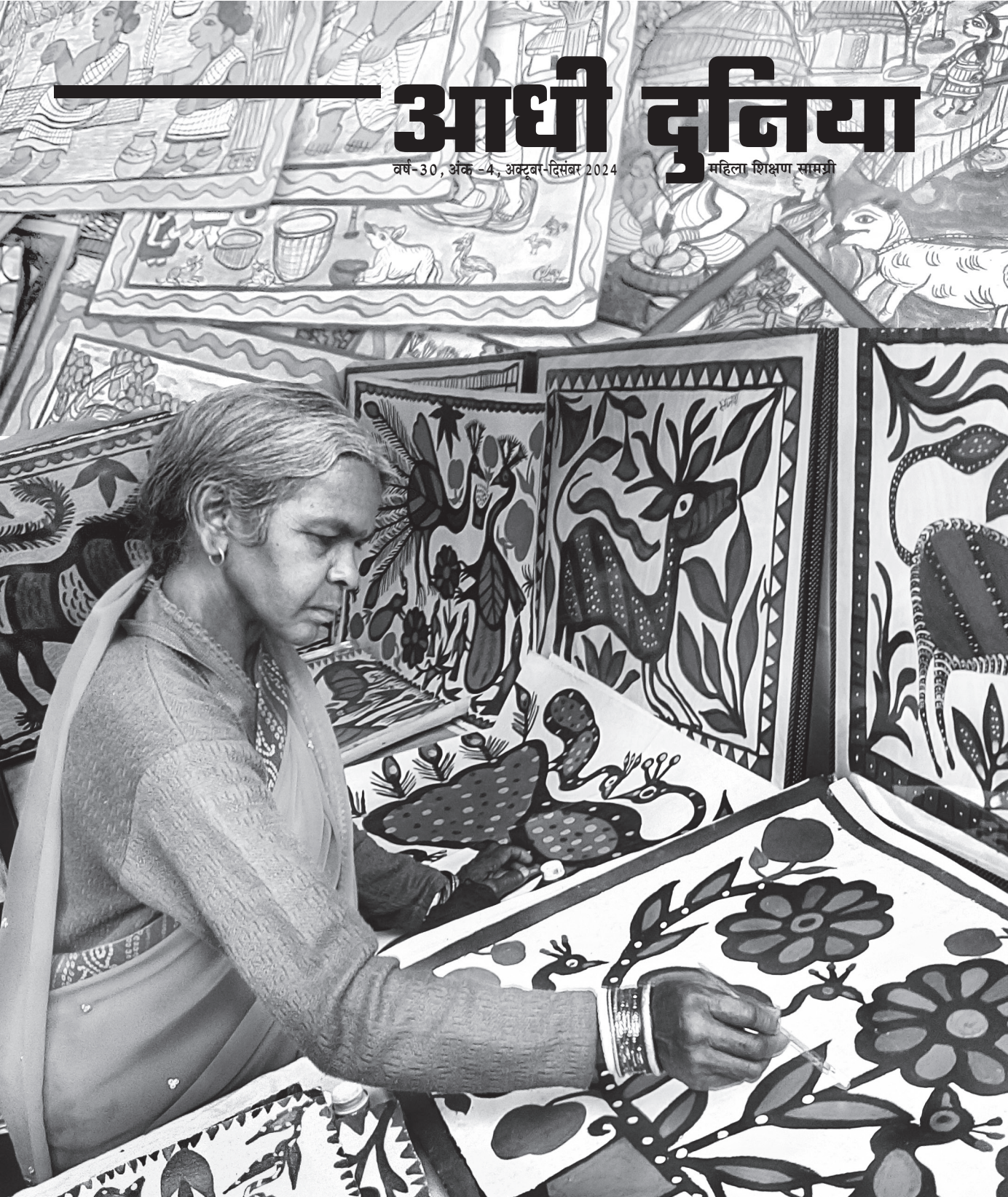

देशज कला-संस्कृति को सहेजती झारखंडी महिलाएं

पुरखे और पानी

पुरखे धरती की हलचल पहचान लेते थे
सजग पुरखे जानते थे
पानी से पहाड़ों का रिश्ता
पानी से जंगल का रिश्ता
पानी से जीवन का रिश्ता
पानी से सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य
धरती के नीचे चट्टानों के मध्य
बहते सोते को
बहते मीठे जल के कंपन को
अपनी कलाईयों की शिराओं में
पुरखे बहते देखते थे
धरती के अन्दर की नदी देखते थे
पुरखे धरती में पानी देखे लेते थे।

पुरखों ने खोज लिया था मीठा पानी
गरजा पहाड़ की तराई के
खेत के एक कोने में
जामुन पेड़ की सूखी ठूंठ में पानी
जो गर्मी में भी सूखता नहीं था
रेंगारी, संसवई, कुरडेग, केरसई से
सिमडेगा हाट आते पैदल यात्री
प्यास बुझाता था आमतपानी
पुरखे पेड़ों में पानी देख लेते थे
पुरखे पहाड़ों की तराई में पानी देख लेते थे
पुरखे जानते थे सूखी लकड़ियों से आग का रिश्ता
पेड़ की जड़ों से पानी का रिश्ता
हमारे पेड़ और पानी के गांव हैं
सरई पानी, धवई पानी, जाम पानी
पुरखे पत्थर चट्टानों के नीचे
दो पहाड़ियों के बीच की जमीन पर
पानी देख लेते थे
बरसात के पानी को रोकते थे

पड़हा राजा की अगुवाई में
सिमोन उराँव जैसे न जाने कितने
पड़हा राजा, माझी परगना,
मुण्डा मानकी की अगुवाई में।
पुरखों के सामूहिक प्रयास से
गांव रहते थे हरे-भरे
जंगल करते थे नदियों को हरे
मदइत सहयोग की परंपरा
के वे वाहक थे
सिर्फ अपने घर परिवार के लिए नहीं
पूरे गांव के लिए खोज लेते थे पानी।

जलधाराओं पर अब पूंजी का पहरा है
जंगल के बिरल होने से
बढ़ते जा रहे हैं भूखों के आंकड़े
संवेदना जल के सूखने का यह समय है
जो पानी निःशुल्क सुलभ था
नदियों, पहाड़ी जलधाराओं, तालाबों में
अब है पूँजीपतियों के हवाले
यह धरती के निरंतर
गर्म होने का समय है
भावी खाद्यान्न संकट का समय है।

हम आदिवासी जानते हैं
जंगल सिर्फ पेड़ों का समूह नहीं है
इसमें समाहित हैं पेड़, लताएं, झाड़ियां
जलधाराएं और पहाड़ियाँ
दो पहाड़ियों के बीच की निचली जमीन पर
पेड़ों झाड़ियों की जड़ों में
पानी के कई-कई मौरा गांठ
जैसे पहले पुरखे हरियाली में पानी ढूंढ लेते थे
हमें सिखा गये पानी, पर्यावरण के पाठ।

- सावित्री बड़ाईक

वर्ष-10, अंक-4, अक्टूबर-दिसंबर 2024

आधी दुनिया

संपादक
रोज केरकेट्टा

संपादक मंडल
साल्गे मार्डी
सुनील मिंज
श्रावणी
शशि बारला

कलापक्ष
इंडिजिनोग्राफिक्स

संपादन कार्यालय
संवाद
301/ए, उर्मिला इन्क्लेव
पीस रोड, लालपुर
रांची - 834001 (झारखंड)
फोन - 0651-2530356
E-mail : **sarjomsamvad@gmail.com**
Website : **www.samvad.net**

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं है।

रोज केरकेट्टा द्वारा संपादित एवं प्रकाशित तथा आई.डी.पब्लिशिंग, रांची द्वारा मुद्रित

सीमित प्रसार

03 भारत की आर्थिक समृद्धि में महिला कारीगर का योगदान — **श्रावणी**

05 झारखंड के शिल्पों में महिला भागीदारी — **शशि बारला**

07 अपनी लोक कला को दुनिया तक पहुँचा रहीं उरांव बहनें — **दीवेन्द्र सिंह**

09 झारखंड की महिलाओं के आभूषण : परंपरा और सुंदरता के प्रतिबिंब — **आधी दुनिया डेस्क**

12 भित्ति चित्रण — **सालगे मार्डी**

13 झारखंडी चित्रकला परंपरा में महिलाएं — **शेखर**

17 झारखंड के हस्तशिल्प — **आधी दुनिया डेस्क**

23 मानव जीवन और बांस शिल्प — **मनरखन राम किस्कू महली**

26 झारखण्ड का पारंपरिक परिधान — **सावित्री बड़ाईक**

32 एक अनसुनी और अनकही दास्तान — **दिव्या गुप्ता**

36 बिरूवार गमछा (कहानी) — **रोज केरकेट्टा**

झारखंड की महिलाएं, कला परंपरा और प्राकृतिक उपादान

झारखंड! प्रकृति और प्राकृतिक उपादानों से सृजित कला और संस्कृति की सृजनकर्ता और संवाहक की धरती है। यह झारखंड की दीवारें, झारखंड के घरों के द्वार, आंगन, रसोई और झारखंड की महिलाओं के गात और सौगात इसके गवाह हैं। पिछले छह हजार साल की कला परंपरा खेती-किसानी और उसके औजार और सरंजाम इसके आज भी धरोहर हैं। घरों की दिवारों पर उकेरी गयी कलाकृति और आंगन में सजाकर एवं सहेजकर कर रखी गईं सामग्रियां यह दर्शाती और बतलाती हैं कि कितना गहन तथा सघन ज्ञान और हुनर है यहां की महिलाओं – खासकर आदिवासी और मूलवासी महिलाओं में। झारखंड की प्रकृति जितनी विविधतापूर्ण है, यहां की कला परंपरा भी उतनी ही विविधता सम्पन्न है।

हम जानते हैं कि 32 तरह के आदिवासी समुदाय झारखंड की कला - धरोहर को तराशते हुए एक ऐसी थाती बना दी है जिसपर न सिर्फ देश की आदिवासियत को गर्व है बल्कि समस्त देशवासियों को इनकी कला- प्रक्रिया पर इतराना लाजिमी है। आदिवासियत का सांगोपांग दर्शन और तात्विक सूत्र इसमें तलाशे जा सकते हैं। इनकी कलाकृति और रेखाचित्र की जीवंतता में पर्यावरण की समग्रता और नैसर्गिकता की झलक एक साथ देखी जा सकती है। इस अर्थ में यह महज दृष्टिगत तोष पैदा नहीं करती बल्कि भावगत संतोष भी पैदा करती है। यानी इसे अतुल्य और अद्भुत कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इससे यह बात बारीकी से समझी जा सकती है कि प्रकृति और प्राकृतिक उपादानों को कला और सांस्कृतिक वैविध्य में तब्दील करने में यहां की महिलाओं के श्रम, ज्ञान, कौशल और इन सबों के प्रति समर्पण का भाव ने यह सब पैदा किया है। कलात्मक सृजनशीलता और सृजनशील कलात्मकता ने इन्हें अन्य महिलाओं से भिन्न विविधता सम्पन्न बनाया है।

आधी दुनिया का यह अंक इन्हीं हुनरमंद महिलाओं पर केंद्रित है। इससे न सिर्फ भावी पीढ़ी की दृष्टि विकसित होगी बल्कि सत्ता नियंताओं का मार्ग - महिलाओं के स्वरोजगार की दिशा में - प्रशस्त करेगी।

भारत की आर्थिक समृद्धि में महिला कारीगर का योगदान

श्रावणी

भारत की अर्थव्यवस्था महिलाओं के योगदान से समृद्ध है। इसमें महिला कारीगर की बड़ी भूमिका है। यह क्षेत्र, जो ग्रामीण और अनौपचारिक सेटिंग्स में फलता-फूलता है, लगभग 200 मिलियन से अधिक आजीविकाओं का स्रोत है। इनमें से 50% से अधिक महिलाएं हैं, जो अपनी कला और कौशल के माध्यम से न केवल अपने परिवारों बल्कि समाज के आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में भी योगदान देती हैं।

ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में महिलाएं अपनी पारंपरिक कलाओं के माध्यम से सशक्त हो रही हैं। वे बांस शिल्प, मिट्टी के बर्तन, कढ़ाई, और पारंपरिक चित्रकारी जैसे कार्यों में लगी रहती हैं। इन क्षेत्रों में संथाल, हो, गोंड, और अन्य जनजातियों की महिलाएं अपने समुदायों की सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रखने के लिए अथक प्रयास करती हैं। उदाहरण के लिए, संथाल समुदाय की महिलाएं सोहराय और कोहबर चित्रकला में विशेषज्ञता रखती हैं। सोहराय कला, जो फसल कटाई के बाद मनाए जाने वाले उत्सव से जुड़ी है, में दीवारों पर पौधों, पशुओं और ज्यामितीय आकृतियों का चित्रण किया जाता है। वहीं, कोहबर कला विवाह और प्रजनन से जुड़ी परंपराओं का प्रतीक है, जिसे महिलाएं दीवारों पर बड़े मनोयोग से उकेरती हैं।

महिलाओं की भागीदारी केवल पारंपरिक कलाओं तक सीमित नहीं है। वे आधुनिक कारीगर उद्यमों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। जयपुर रग्स और रंगसूत्र जैसे ब्रांड महिलाओं को उनके घरों में रोजगार उपलब्ध कराते हैं। ये व्यवसाय मॉडल महिलाओं की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए तैयार किए गए हैं, जिससे वे अपने पारिवारिक दायित्वों के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता भी हासिल कर सकें। ये मॉडल न केवल महिलाओं को सशक्त बनाते हैं बल्कि उनकी रचनात्मकता और कौशल को भी नए आयाम देते हैं।

अनौपचारिक अर्थव्यवस्था महिलाओं के लिए एक सहायक संरचना प्रदान करती है। इस क्षेत्र की लचीली कार्यप्रणाली महिलाओं को अपनी गति और सुविधा के अनुसार काम करने की स्वतंत्रता देती है। वे घर में रहकर अपने उत्पाद बना सकती हैं और बाजार तक पहुंचने के लिए स्थानीय और वैश्विक नेटवर्क का उपयोग कर सकती हैं। यह अनौपचारिकता महिलाओं को उनके सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिबंधों के बावजूद आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाती है।

महिला कारीगरों का योगदान सतत विकास लक्ष्यों (एसडीजी) को प्राप्त करने में भी अहम है। उनका काम गरीबी उन्मूलन, लैंगिक समानता, और पर्यावरणीय स्थिरता को बढ़ावा देता है। उदाहरण के लिए, महिला कारीगर पारंपरिक और पर्यावरण अनुकूल तकनीकों का उपयोग करती हैं, जिससे प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण होता है। वे अपनी कला के माध्यम से न केवल अपनी आजीविका सुनिश्चित करती हैं बल्कि स्थानीय अर्थव्यवस्था को भी सुदृढ़ करती हैं।

हालांकि, महिला कारीगरों को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें नीतिगत समर्थन, शिक्षा और कौशल विकास की आवश्यकता है। विशेष रूप से, बाजार तक पहुंच उनके लिए एक बड़ी चुनौती है। महिलाओं के उत्पाद, चाहे वे मिट्टी के बर्तन हों, बांस की टोकरी हो, या पारंपरिक चित्रकला, अक्सर केवल स्थानीय बाजारों तक ही सीमित रहते हैं। सरकार और सामाजिक संगठनों को इन महिलाओं को वैश्विक बाजारों से जोड़ने के प्रयास करने चाहिए।

इन चुनौतियों को हल करने के लिए कई कदम उठाए जा सकते हैं। सबसे पहले, महिलाओं के लिए विशेष नीतियां और योजनाएं बनाई जानी चाहिए, जो उनके उत्पादों को

अधिक से अधिक ग्राहकों तक पहुंचाने में मदद करें। इसके अलावा, उन्हें तकनीकी और व्यावसायिक कौशल सिखाने के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए। इस प्रकार की पहल महिलाओं को अपने उत्पादों की गुणवत्ता सुधारने और उन्हें बेहतर कीमत पर बेचने में सक्षम बनाएगी।

महिलाओं की भागीदारी कारीगर अर्थव्यवस्था को समृद्ध और समावेशी बनाती है। उनकी मेहनत और रचनात्मकता ने इस क्षेत्र को नई ऊंचाइयों तक पहुंचाया है। चाहे वह सोहराय और कोहबर की चित्रकारी हो, डोकरा धातु शिल्प हो, या जयपुर रग्स जैसी आधुनिक पहल हो, महिलाओं ने हर जगह अपनी छाप छोड़ी है।

सरकार और समाज को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि इन महिलाओं को हर संभव समर्थन मिले। उनके लिए वित्तीय सहायता, प्रशिक्षण, और विपणन सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए। महिला कारीगरों का सशक्तिकरण न केवल उनके परिवारों और समुदायों के लिए फायदेमंद होगा, बल्कि यह पूरे देश की आर्थिक और सांस्कृतिक विरासत को भी मजबूत करेगा। ■

लाह कारीगरी : झारखंड की महिलाओं की आर्थिक रीढ़

झारखंड, जो अपनी प्राकृतिक संपदा और सांस्कृतिक विविधता के लिए प्रसिद्ध है, वहाँ की लाह कारीगरी इस राज्य की सांस्कृतिक धरोहर और आर्थिक व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा है। लाह एक प्राकृतिक रेजिन (गोंद) है, जो लाह कीट (कैरिया लैका) से प्राप्त होती है। झारखंड, लाह का सबसे बड़ा उत्पादक राज्य है। यहां हर साल करीब 16 हज़ार टन लाह का उत्पादन होता है। झारखंड के जिन जिलों में लाह की खेती हो रही है, उनमें पाकुड़, पूर्वी और पश्चिमी सिंहभूम, गढ़वा, पलामू, देवघर, दुमका और गोड्डा शामिल है। इसके अलावा हजारीबाग, चतरा, रामगढ़, रांची, गुमला, लोहरदगा, सिमडेगा, खूंटी, गिरिडीह, धनबाद और बोकारो जिले में भी लाह की खेती होती है। झारखंड के जंगलों में पाए जाने वाले पलाश, बेर, कुसुम और पीपल के पेड़ों पर ये कीट लाह उत्पन्न करते हैं। झारखंड की महिलाएँ पारंपरिक रूप से लाह उत्पादन और उससे जुड़े उत्पाद बनाने में विशेषज्ञ हैं। यह कला पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होती रही है। झारखंड लाह से तैयार किए गए उत्पादों में लाह से बनी चूड़ियां, श्रृंगार बॉक्स, सजावटी वस्तुएँ, खिलौने और आभूषण प्रमुख हैं। चूड़ियों को विशेष रूप से महिलाएँ पारंपरिक डिज़ाइनों और आधुनिक फैशन के अनुरूप तैयार करती हैं। महिलाएँ लाह को गर्म करके उसे मनचाहे आकार में ढालती हैं और उन पर डिज़ाइन

उकेरती हैं। इसके बाद महिलाएँ प्राकृतिक और कृत्रिम रंगों का उपयोग करके चूड़ियों को सुंदर और आकर्षक बनाती हैं। उनके द्वारा तैयार की गई लाह की चूड़ियाँ और अन्य उत्पाद न केवल देश में बल्कि अंतरराष्ट्रीय बाजार में भी प्रसिद्ध हैं। सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों से इन उत्पादों को वैश्विक मंच पर पहुँचाया गया है, जिससे महिलाओं की कला को पहचान मिली है। यह कला उनके जीवन और आजीविका का आधार बन चुकी है। लाह कारीगरी ने ग्रामीण और आदिवासी महिलाओं को आत्मनिर्भर बनने का अवसर दिया है। वे अपने उत्पादों को स्थानीय बाजारों, मेलों, और सरकारी योजनाओं के माध्यम से बेचती हैं। लाह से जुड़े उत्पाद बनाने वाली महिलाएँ अपनी कला और मेहनत के माध्यम से समाज में पहचान और सम्मान प्राप्त कर रही हैं। ■

झारखंड के शिल्पों में महिला भागीदारी

शशि बारला

लोककला और शिल्प अपनी सरलता और सहजता के कारण मन को आकर्षित करते हैं। झारखंड में लोक कला और शिल्प की लंबी परंपरा और इतिहास रहा है। मानव इतिहास की दृष्टि से, कला और शिल्प का उद्भव युगों पहले हुआ था, जिसके प्रमाण इस्को, हजारीबाग की गुफाओं और इस क्षेत्र की खुदाई में प्राप्त कलाकृतियों से मिले हैं। यह परंपराएं इतिहास के रोमांचक गलियारों से होकर गुजरती हैं और आज विभिन्न कला शैलियों और शिल्पों के रूप में समाज में विद्यमान हैं। झारखंड की शिल्प कला और लोक परंपराएं महिलाओं की सशक्त भागीदारी के बिना अधूरी हैं। पारंपरिक शिल्प जैसे बांस शिल्प, भित्ति चित्र, लकड़ी शिल्प, धातु शिल्प, गोंदना, और लेदरा शिल्प में महिलाओं की भूमिका केवल कार्यशीलता तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनके सृजनात्मकता और सांस्कृतिक पहचान का प्रमाण भी है।

बांस शिल्प में महिलाओं की भूमिका

बांस शिल्प न केवल झारखंड, बल्कि विश्व के सबसे पुराने और लोकप्रिय शिल्पों में से एक है। यह सरल और सुलभ शिल्प गांव और शहरों में हर घर में किसी न किसी रूप में मौजूद है। झारखंड के ग्रामीण क्षेत्रों में बांस शिल्प का कार्य महिलाओं की आजीविका का एक प्रमुख साधन है। ये महिलाएं बांस से उपयोगी और सुंदर वस्तुएं तैयार करते हैं, जैसे सूप, टोकरी, धनुष, और मछली पकड़ने के जाल आदि। आजकल बांस से फूलदान, हैंडबैग जैसी सामान्य उपयोगी वस्तुएं भी बनाई जा रही हैं। यह कार्य मुख्यतः संथाल परगना, रांची और सिंहभूम जिलों में प्रचलित है।

भित्ति चित्रकला में महिलाओं की रचनात्मकता

प्रारंभिक काल से ही चित्रकारी दीवारों, गुफाओं की छतों और दीवारों पर होती रही है। झारखंड के हजारीबाग जिले की गुफाओं में पाई गई पत्थर की चित्रकारी इसका प्रमाण हैं। यहां की सोहराय और कोहबर चित्रकला सबसे आकर्षक और लोकप्रिय हैं। यह परंपरा आज भी विभिन्न रूपों में जीवित है। भित्ति चित्र, विशेष रूप से सोहराय और कोहबर कला, मुख्य रूप से महिलाओं द्वारा बनाई जाती हैं। यह कला शादी और अन्य उत्सवों के दौरान घर की दीवारों पर चित्रित की जाती है। हजारीबाग क्षेत्र में महिलाएं पारंपरिक डिजाइनों के माध्यम से अपनी रचनात्मकता को व्यक्त करती हैं। यह कला न केवल सौंदर्य का प्रतीक है, बल्कि समाज की सांस्कृतिक धरोहर को जीवंत बनाए रखने का माध्यम भी है। इसके अलावा, झारखंड में जादोपटिया चित्रकला भी प्रसिद्ध है, जो संथाल परगना क्षेत्र में प्रचलित है।

लेदरा शिल्पः महिलाओं के पुनर्चक्रण का अनोखा उदाहरण

लेदरा शिल्प, जिसमें महिलाएं पुराने एवं फटे कपड़ों का उपयोग कर सुंदर और उपयोगी वस्त्र बनातीं हैं, जो महिलाओं की कल्पनाशीलता और कौशल का प्रमाण है। झारखंड के प्रत्येक ग्रामीण इलाकों में महिलाओं द्वारा किया जाता है। यह कार्य काथा शिल्प का आधुनिक रूप है। इन कपड़ों को सुई-धागे की मदद से सिलाई कर कलात्मक स्वरूप दिया जाता है। यह शिल्प महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण में भी योगदान देता है।

गोंदना कला में महिलाओं की पहचान

आदिवासी एवं सदान महिलाओं में गोंदना (टैटू) यानि खोदा खोदवाने की प्राचीन परम्परा रही है। यह परंपरा न केवल महिलाओं की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है, बल्कि सामुदायिक परंपराओं को बनाए रखने का एक तरीका भी है। ये अपने शरीर के प्रायः सभी अंगों में गोदना गुदवाती थी। गोदना में ज्यामितीय आकृतियां, चंद्रमा, सूर्य के साथ

साथ महादेव जट्ट, पोथी, कसैली फूल, बंदा गेरिया, चावल, धाइर, चरई गोड़ आदि की आकृतियों को बनवाने का प्रचलन है। महिलायें सामान्य रूप से गला में हँसली, हैकल, हाथ में बाजू, अगुवा, पछुआ, लुलवा में कसैली फूल, पोथी, अंगुली में बुंदा, पांव में पंयरी, पायल आदि की आकृति बनवाती थी। खोदा मलारिन महिलाएँ खोदती हैं। ये खोदा को जल्दी सुखने के लिए हल्दी तेल लगाती थीं और तीन शाम दूब घांस में झाड़ती थीं और वह ठीक हो जाता था।

लकड़ी शिल्प

लकड़ी मानव द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली सबसे पुरानी कच्ची सामग्री है। झारखंड के रांची और हजारीबाग जिलों के लकड़ी के खिलौने पूरे देश में प्रसिद्ध हैं। लकड़ी से बने अन्य उपयोगी वस्तु, जैसे पीढ़ा, वाद्य यंत्र, मुखौटे, और सजावट के लिए मूर्तियां भी बनाई जाती हैं।

पत्थर शिल्प

झारखंड के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे घाटशिला, सरायकेला, पलामू और दुमका में पत्थर शिल्प का कार्य होता है। पत्थरों से देवताओं की मूर्तियां, जानवरों की मूर्तियां और अन्य सजावटी वस्तुएं बनाई जाती हैं।

मृण शिल्प

झारखंड के सामाजिक जीवन में संगीत और नृत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। मिट्टी से बने वाद्य यंत्र, खिलौने और दैनिक उपयोग की वस्तुएं पूरी तरह से हाथ से बनाई जाती हैं। यह शिल्प लोहरदगा, रांची और देवघर जैसे क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रचलित है।

पैडी आर्ट (धान की बालियों से झालर)

झारखंड में दीवाली के समय धान की बालियों से बनाए जाने वाले झालर एक अनोखी और आकर्षक परंपरा है। यह झालर न केवल घरों को सजाने के लिए उपयुक्त होते हैं, बल्कि ये झारखंड की संस्कृति और परंपरा का भी प्रतीक हैं। इस अवसर पर महिलाएं धान की बालियों से झालर बनाती हैं। आमतौर पर बाजारों में यह 20 से 30 रुपये में साधारण वाली मिल जाती है। परन्तु ज्यादा कलात्मक वाले झालर लोग अपने घरों में टांगने के लिए स्वयं बनाते हैं। झारखंड के आदिवासी एवं सदान समुदाय सोहराई के समय इसे पशुओं (गाय, बैल) को सजाने के लिए मांथे पर टांगते हैं। इसे प्रायः महिलायें ही बनाती हैं। यह परंपरा न केवल झारखंड की संस्कृति को प्रदर्शित करती है, बल्कि यह पर्यावरण के अनुकूल भी है। धान की बालियों का उपयोग करके बनाए जाने वाले ये झालर पूरी तरह से प्राकृतिक और बायोडिग्रेडेबल होते हैं।

धातु शिल्प और महिला उद्यमिता

डोकरा धातु शिल्प में महिलाएं सक्रिय रूप से शामिल होती हैं। यह कला महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त करने और उनके पारंपरिक कौशल को नई ऊंचाइयों तक ले जाने में मदद करती है। झारखंड में धातु शिल्प का कार्य प्राचीन काल से होता आ रहा है। असुर और बिरहोर जनजातियों द्वारा धातु शिल्प में अद्वितीय योगदान दिया गया है। धातु शिल्प में डोकरा तकनीक का उपयोग किया जाता है, जिससे पारंपरिक रूप से 'पैला' नामक वस्तु तैयार किए जाते हैं। आजकल दीपक, पशु मूर्तियां और सजावटी वस्तुएं भी बनाई जा रही हैं।

मुखौटा शिल्प में महिलाओं की हिस्सेदारी

सरायकेला-खरसावां क्षेत्र में मुखौटा शिल्प की परंपरा में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। झारखंड के सरायकेला-खरसावां क्षेत्र का छऊ नृत्य मुखौटों के साथ किया जाता है। यह मुखौटे मिट्टी, कागज और कपड़ों की मदद से बनाए जाते हैं। शिव, कृष्ण, पार्वती जैसे महाकाव्य पात्रों के लिए विभिन्न रंगों का उपयोग किया जाता है। छऊ नृत्य के लिए मुखौटे बनाने की प्रक्रिया में महिलाओं का योगदान न केवल आर्थिक सशक्तिकरण है, बल्कि यह कला रूप की संरक्षकता का भी प्रमाण है।

झारखंड की शिल्प परंपराएं महिलाओं की अद्वितीय भागीदारी के बिना अधूरी हैं। इन शिल्पों में महिलाओं की रचनात्मकता, श्रम, और सांस्कृतिक ज्ञान झलकता है। यह न केवल उनके आर्थिक और सामाजिक सशक्तिकरण का माध्यम है, बल्कि झारखंड की सांस्कृतिक धरोहर को संजोए रखने का एक महत्वपूर्ण स्तंभ भी है। ■

अपनी लोक कला को दुनिया तक पहुँचा रहीं उरांव बहनें

दीवेन्द्र सिंह

उरांव पेंटिंग के ज़रिए दो आदिवासी बहनें अपनी लोक संस्कृति को दुनिया तक पहुँचाने का प्रयास कर रहीं हैं, इनकी बनाई पेंटिंग की ये खास बात होती है कि इनमें पूरी तरह से प्राकृतिक रंगों का इस्तेमाल होता है।

लाल किनारे की सफेद साड़ी पहने अनामिका भगत छोटे ब्रश से जंगल, पेड़ और फूलों वाली पेंटिंग बनाने में व्यस्त थीं। उनकी हर एक पेंटिंग में प्रकृति को करीब से देख सकते हैं। इनकी एक खास बात और भी है, ये सभी पूरी तरह से प्राकृतिक रंगों से बनाईं जाती हैं।

अनामिका भगत, छत्तीसगढ़ के जसपुर जिले के शायला गाँव की रहने वाली हैं और अपनी उरांव जनजाति की कला को दुनिया तक पहुंचा रहीं हैं। अनामिका गाँव कनेक्शन से बताती हैं, 'बचपन में हम अपने घरों की दीवारों पर चित्र बनाते थे, लेकिन लगभग 16 साल पहले हमने इन्हीं चित्रों को कागज और कैनवास पर बनाना शुरू किया ताकि इसे ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचा सकें।'

वो आगे कहती हैं, 'अब बहुत कम लोग हैं जो इस कला को जानते हैं, हमारी कोशिश है कि हम इसे ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचा पाएं, जिससे हमारी जनजाति के बारे में लोग ज्यादा जान पाएं।'

उरांव पेंटिंग ज्यादातर प्रकृति और लोक कथाओं पर आधारित होती हैं, जैसे कि एक पेंटिंग में एक महिला घोड़े पर सवार है और उसने ऊंची तलवार पकड़ रखी है। यह महिला रोहतासगढ़ की तीन वीर आदिवासी महिलाओं — सिनगी दई, कैली दई और चंपा दई — के साहस का प्रतीक है, जिन्होंने तीन बार दुश्मनों से उरांव गांव वालों की रक्षा की थी। इसी तरह जंगल, पहाड़, पशु इनकी पेंटिंग

में देखे जा सकते हैं।

दूसरी आदिवासी समुदायों की तरह, उरांव जनजाति की अपनी समृद्ध परंपराएं और कहानियां हैं। मध्य भारत गोंड और भील जनजातियों की आदिवासी पेंटिंग्स के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन उरांव पेंटिंग्स के कम ज्ञाता हैं, जिन्हें पूरी तरह प्राकृतिक सामग्रियों जैसे मिट्टी से बनाया जाता है। हर चित्र उरांव जनजाति के इतिहास और संस्कृति से जुड़ी कहानी बताता है।

'एक चित्र जनी शिकार पर्व की भी याद दिलाता है, जो हर 12 साल में इन महिलाओं के सम्मान में मनाया जाता है। इस अवसर पर उरांव जनजाति की महिलाएँ जानवरों का शिकार करती हैं, 'अनामिका की बहन सुमंती देवी ने बताया, जो उनके साथ पेंटिंग बनाती हैं।

अनामिका के साथ सुमति भी इस कला को बचाने के लिए मेहनत कर रहीं हैं, दोनों बहनें टाटा स्टील फाउंडेशन के कार्यक्रम संवाद में शामिल हुईं थीं, जहाँ उन्हें अपनी कला के प्रदर्शन का मौका मिल जाता है। सुमंती देवी ने और अनामिका, जो जमशेदपुर के गोपाल मैदान में अपने चित्रों से घिरी बैठी थीं।

उरांव पेंटिंग्स में रंगों का एक बड़ा हिस्सा विभिन्न रंगों की मिट्टी से आता है। आदिवासी कलाकार लाल, भूरे और लाल मिट्टी को पानी में घोलकर उसे रंग के रूप में उपयोग करते हैं।

सुमंती बताती हैं, 'हम लाल रंग कभी-कभी भूसे को जलाकर बनाते हैं, और सफेद के लिए चावल के आटे का इस्तेमाल करते हैं। काले रंग के लिए कोयले का इस्तेमाल करते हैं। हमने हमेशा रंग घर पर ही बनाए हैं। हम कभी भी दुकान से खरीदे हुए या रासायनिक रंगों का उपयोग नहीं करते हैं।' सुमंती देवी और उनकी बहन अनामिका आज भी रंगों की खोज में जंगलों और खेतों में जाती हैं।

छत्तीसगढ़, झारखंड, बिहार, पश्चिम बंगाल और ओडिशा में आदिवासी समुदाय अपने घरों की दीवारों पर पेंटिंग करते हैं। इन दीवारों पर पक्षी, जानवर, पेड़ और लोग चित्रित होते हैं, और प्रत्येक चित्रण के पीछे एक कहानी होती है। उरांव समुदाय हर साल अपने घरों की दीवारों पर पेंटिंग करता है। जो चित्र बनते हैं, वे उनके गोत्र या उपजाति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सुमंती देवी समझाते हुए कहती हैं, '12 गोत्र होते हैं,

जो विभिन्न जीवों से जुड़े होते हैं। उदाहरण के लिए, बाघ लकड़ा गोत्र के लिए है, तिर्खाई पक्षी तिर्की गोत्र के लिए, मछली मिंज गोत्र के लिए, और कछुआ कच्छप गोत्र के लिए होता है।'

इन पेंटिंग्स के कुछ नियम भी होते हैं। उनके वेदी पर किए गए चित्र केवल पुरुषों द्वारा बनाए जाते हैं। इसे 'डंडपट्टा' कहा जाता है। यह आमतौर पर पूजा स्थल पर शुभ समारोहों को चिह्नित करने के लिए बनाया जाता है।

अनामिका अपनी जनजातीय कला को संरक्षित करना और उरांव इतिहास और संस्कृति के बारे में जागरूकता फैलाना चाहती है और यह संभव नहीं था अगर यह केवल उनके घरों की दीवारों तक सीमित रहता। इसलिए उन्होंने कागज और कैनवास पर पेंटिंग शुरू की।

'हम इस कला को उन बच्चों को सिखाते हैं जो रुचि रखते हैं, जब भी हमें सांस्कृतिक सेमिनारों या इस तरह के प्रदर्शनों के दौरान अवसर मिलता है, जिसे जमशेदपुर में टाटा स्टील फाउंडेशन द्वारा आयोजित किया जाता है। हम संवाद की बदौलत यहां 10 साल से आ रहें हैं, 'अनामिका भगत ने गाँव कनेक्शन को बताया।

एक कलाकार को एक पेंटिंग बनाने में लगभग तीन से चार दिन लगते हैं। रंगों को परतों में लगाया जाता है और इसलिए हमें दूसरी परत लगाने से पहले एक परत के सूखने का इंतजार करना पड़ता है। पेंटिंग के आकार, उसकी जटिलता और उपयोग किए गए रंगों के आधार पर, पेंटिंग्स 150 रुपये से लेकर 2,000 रुपये तक में बिकती हैं।

2018 में, सुमंती देवी को टाटा स्टील फाउंडेशन से एक फेलोशिप मिली, जिसके तहत उन्होंने उरांव पेंटिंग्स पर एक किताब तैयार की और उसी पर एक वीडियो डॉक्यूमेंट्री भी बनाई।

पेंटिंग को जारी रखना मुश्किल है क्योंकि यह मेहनत भरा काम है और इसके बदले मिलने वाला पैसा पर्याप्त नहीं होता लेकिन वे अपनी कला को छोड़ना नहीं चाहतीं, क्योंकि उरांव कहानियों, कला और संस्कृति को कागज और कैनवास पर उतारना ही एकमात्र तरीका है जिससे वो इसे दुनिया तक पहुंचा सकती हैं। ■

झारखंड की महिलाओं के आभूषण : परंपरा और सुंदरता के प्रतिबिंब

झारखंड की महिलाएं सदियों से अपने आभूषणों के माध्यम से न केवल अपने सौंदर्य को निखारती आई हैं, बल्कि अपनी परंपराओं और सांस्कृतिक धरोहर को भी संरक्षित करती रही हैं। आभूषण केवल साज-सज्जा का साधन नहीं, बल्कि समाज में महिलाओं की पहचान, उनकी सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं का प्रतीक भी हैं। सिर से लेकर पैर तक पहने जाने वाले ये आभूषण झारखंड की सांस्कृतिक विविधता और महिलाओं की सृजनात्मकता को प्रकट करते हैं।

सिर में पहने जानेवाले आभूषण

खोंगसो:- चांदी से बना यह आभूषण जूड़े को

संभालने और सजाने के लिए उपयोगी होता है। इसे कलात्मक जूड़ा बनाने में प्रयोग किया जाता है। जैसा कि नाम से प्रतीत होता है कि इसे बालों में खोंसने के कारण इसका नाम 'खोंगसो' पड़ा।

चवनी वाला और पानपत्ता खोंगसो:- चांदी के इस खोंगसो में ऊपर की ओर चांदी की चवनी, कौड़ी जड़ा होता है। किसी-किसी में चवनी के स्थान पर सिकड़ी में घुंघरू लगा होता है। पानपत्ता खोंगसो में पान पत्ता की आकृति बना रहता है और उसमें तीन तरह सिकड़ी और उसी में घुंघरू लगे होते हैं जो जूड़े की खूबसूरती को बढ़ा देता है।

क्लीप:- यह विभिन्न डिजाइनों में चांदी का बना होता है। क्लीप में नीचे की ओर घुंघरू एक पतला सिकड़ी, जो दोनों क्लीपों को जोड़े रखता है। इसे कान के उपर बालों में लगाया जाता है।

कान में पहनने वाले आभूषण

प्रारम्भ में खइरका, ताड़पत्ते, खजूर, पत्ते, सखुआ पत्ते, बांदा लतर, गंगई डंठल, गुलैची लकड़ी आदि से आभूषण बनते थे जिसे काले रंग से रंग दिया जाता था।

करंजफूल:- यह कान में पहने जाने वाले सोना, चांदी से बनते हैं। बीच में गोल दाना उसके किनारे दो धारी सोने के तार से घेरा दिया हुआ, फिर उठे हुए पत्ते जैसे और बीच-बीच में छोटा बुंदा होता है। जो देखने में आकर्षक होता है। आज भी यह खूब चलता है।

कानपासा:- यह सोने, चांदी का बना पूरे कान को ढंकने वाला आभूषण है।इसमें नीचे पांच या सात गोल-गोल झुलकी लगा होता है। चांद, तारे, कमलफूल आदि इसमें उकेरे रहते हैं।

उपरकाना:- पुरूष भी दोनों कान के उपर में सोना या चांदी का उपरकाना पहनते थे।

बेसरीः- इसे नाक के बीच नीचे वाले हिस्से में पहना जाता है। यह सोना का गोल बीच में चपटा, नक्काशीदार मुंह के उपर झुलने वाला, कोई बुलांक तो इतना बड़ा होता है पूरा मुंह ढक लेता है। खाना खाने के समय महिलाओं को एक हाथ से उसे उठाकर खाना पड़ता है।

गले में पहने जाने वाले गहने

हँसलीः- यह सोना, चांदी, तांबे आदि का बना होता है। इसके बीच का भाग मोटा, नहीं मुढ़ने वाला, गला में डालने वाला हिस्सा पतला मुढ़ा हुआ बना, विभिन्न

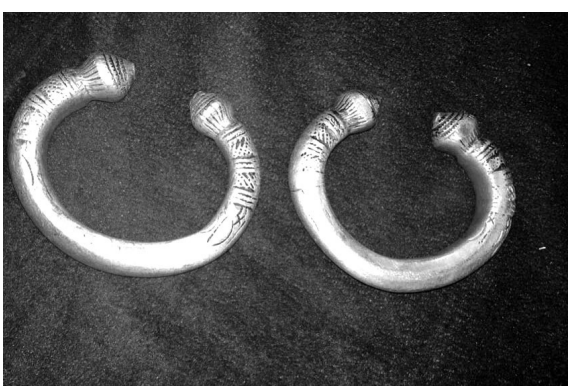

डिजाइनों में फूल, मछली, शंख आदि का बना होता हैं यह करीब आधा किलो का या 40 भर चांदी रूपया से बना होता है। चूंकि चांदी वजनी होने के कारण बेचने से अच्छा दाम मिल जाता है एक तरह से यह इनकी पूंजी है।

खम्भीयाः- यह चांदी का ताबीज जैसे, मोड़ी बना होता है। जिसमें लाल, कालाधागा डालके, बीच-बीच में मूंगामाला दे के गुंथा रहता हैं चैकोर भाग में फूल, पत्ते, मोर आदि पक्षी के चित्र उकेरे हुए होते है।

सीताहारः- यह गले में पहनने वाला चांदी का पांच लॉकेट वाला गला तरफ दो लर सिकड़ी लगा हुआ, ऊपर से नीचे की ओर सिकड़ी की संख्या और लॉकेट का आकार बड़ा होते जाता है। इससे गले के सौन्दर्य में चार चांद लग जाता है।

कंठामालाः- यह चांदी का गोल-गोल अंदर से खोखला होता है। यह धागे में गूंथा कंठा के बीच-बीच

में चार धारी लाल, नीला या काला छोआ मूंगा मूंथा होता है। धंसे हुए भाग में धागा, मूंथने की गोल कड़ी होती है।

चंद्रहारः- यह चांदी का बना, गले के दोनों ओर पान पत्ता आकृति में उकेरा हुआ जिसमें ऊपर कड़ी में दो लर सिकड़ी और नीचे तीन लर सिकड़ी होता है। देखने में आकर्षक एवं सुन्दर लगता है।

हाथ में पहनने वाले आभूषण

टाड़ः- यह चांदी का मोटा, गोल, नक्काशीदार, अंदर से खोखला, एक जगह खुला हुआ होता है। इसे सदान महिलाएं कोहनी से ठीक उपर पहनती हैं।

बाजूबंदः- यह चांदी का बना धागे में गुंथा हुआ जिसे बांह में बांधनी से बांधा जाता है। बंधनी में गांठ से ऊपर चांदी का गोल कसैलीनुमा लगा होता है और फूदना झूलते रहता है।

ठेला:- यह पूरा गोल, चांदी का मोटा, खोखला, नक्काशीदार चूड़ी के पहले पहना जाता है। इसलिए इसे अगुवा कहा जाता है।

कंगना:- यह सोना, चांदी का एक अंगुली चौड़ा, नक्काशीदार और अन्दर से लाह भरा हुआ होता है।

बेरा:- पुरूष भी हाथों में तांबा, कांसा, पीतल, सोना, चांदी से बना बेरा पहनते हैं।

बहिंकल:- पुरूष भी बांह में चांदी, कांसा का बहिकल पहनते थे। यह लगभग महिलाओं के बाजूबंद की तरह होता है।

पैर में पहने जाने वाले आभूषण

पँयरी:- यह कांसा, पीतल, चांदी का घुंघरू वाला या बिना घुंघरू के भी, कड़ा नौकानुमा होता है। इसे सीधे पैर में डाला जाता है। कहीं से भी खुलने के लिए कड़ी नहीं होता है। इसे बड़े तथा बच्चे दोनों पहनते हैं।

पायल:- चांदी का पायल विभिन्न डिजाइनों में यथा-आम्बा, अम्बा पतई, जौ मंजी, खीरा मंजी, कोबी

पतई आदि बनता है। इसमें एक जगह कड़ी और उसमें घुंघरू लगा होता है।

गोड़ाम:- यह चांदी गिलट का बना गोल, खोखला, बीच में मोटा, एक जगह खुलने वाला, पूरा बंद वाला भी होता है। इसके अन्दर बजने के लिए धातु की गोली डाली हुई रहती है। यह नक्काशीदार होता है।

अंगुठा:- यह पैर की बड़ी अंगुली में पहनने वाला, कांसा, पीतल, लोहा, चांदी का गोल, प्लेन या फूलदान होता है।

झटीया:- यह कांसा, पीतल, लोहा का गोल मोटा और पैर की तीन अंगुलियों में पहना जाता है।

कतरी:- यह कांसा, पीतल, लोहा का बना पतला गोल होता है इसे पैर की सबसे छोटी अंगुली में पहनते हैं।

बिछिया:- यह चांदी का बना, सभी अंगुलियों में पहने जाने वाला, मछली, पानपत्ता, शंख, फूल आदि डिजाइन का होता है।

झारखंड की महिलाओं के आभूषण उनकी सांस्कृतिक धरोहर और सुंदरता के प्रतीक हैं। ये आभूषण न केवल परंपराओं को सजीव रखते हैं, बल्कि महिलाओं को आत्मविश्वास और सामुदायिक पहचान भी प्रदान करते हैं। यह परंपरा झारखंड की सांस्कृतिक विविधता और महिलाओं की रचनात्मकता को दर्शाती है।

- आधी दुनिया डेस्क

भित्ति चित्रण

सालगे मार्डी

आदिवासी जीवनकला में भित्ति चित्रण या दीवाल चित्रण का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 'जीवन कला' मैं इसलिए कह रही हूं कि जब भी मैं किसी आदिवासी गांवों में प्रवेश करती हूं गली (कुलही) के दीवालों में कई प्रकार के पेंटिंग बने हुए दिख जाते हैं। जिससे व्यक्ति का सारा ध्यान उसी पर चला जाता है। खासकर संथाल गांवों में यह नजारा देखने को मिलता है। कुलही (गली) के दोनों तरफ घर और उन घरों के दीवारों में मिट्टी से रंगे हुए चित्रण। यह कला आदिवासी महिलाओं में बचपन से ही आ जाती है। अब तो कई पुरुष भी इस तरह के दीवाल चित्रण बना रहे हैं। यह हुनर शायद बचपन से इसलिए भी आ जाती है क्योंकि गांवों में लगभग घर मिट्टी के ही बने होते हैं और जब-जब कोई पर्व त्योहार आता है महिलाएं दीवालों को रंगने लगती हैं। वे चाहती है उसका घर सफाई के मामले में आगे रहे। कई बार हम गांव के घरों और उसकी सजावट एवं बनावट से अनुमान लगाते हैं यह किस आदिवासी समुदाय का घर है। मकान खड़ा करने के साथ उस मकान को घर का रूप देने में परिवार के लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उसी तरह गांव को सुंदर बनाने एवं साफ सफाई रखने में ग्रामीणों की भूमिका होती है। वैसे तो ये घर मिट्टी के बने होते हैं पर देखने से पता ही नहीं चलता यह मिट्टी का बना हुआ है। मिट्टी का घर, मिट्टी का रंग या पेड़ पौधों का छाल, फूल आदि से रंग तैयार कर दीवाल की रंगाई-पोताई की जाती है।

हालांकि इस तरह के परिदृश्य लगभग हर गांव में होते हैं। पर कुछ-कुछ गांवों में तो सभी घर के दीवारों में ही दीवाल चित्रण की नई-नई कला, हुनर देखने को मिलती है। यह दीवाल चित्रण आदिवासी जीवन दर्शन को भी दर्शाता है। आदिवासी समुदाय हमेशा से प्रकृति से जुड़कर रहना पसंद करते हैं। मानव के साथ-साथ अन्य प्राणियों एवं पेड़ पौधों से उनका गहरा रिश्ता होता है।

आदिवासी प्रकृति की पूजा करते हैं। इसलिए उनकी संस्कृति उनके दीवाल चित्रण में भी दिख जाता है। प्रकृति प्रेमी होने के कारण दीवालों में पेड़-पौधा, नदी नाला, चांद-सूरज, हल चलाते किसान, धान रोपती महिलाएं आपको दीवालों में दिख जाते हैं। किसी-किसी दीवाल में मोरा बनाते लोगों का चित्रण भी दिख जाता है जिससे उनका सामूहिक अभिक्रम दिखता है। इन चित्रणों में सबसे महत्व की बात यह कि इस हुनर या कला को पाने में महिलाएं कहीं से प्रशिक्षण लेकर नहीं आती है। यह कला सामाजिक, सांस्कृतिक अभिक्रम है। गांव घर में जब महिलाएं दीवाल चित्रण करती हैं तो गांव की छोटी लड़कियां उसी समय से प्रशिक्षित हो जाती है। इन महिलाओं में कई ऐसी महिलाएं है जो पढ़ी लिखी तो नहीं है पर पेंटिंग बनाने में पारंगत है। पढ़े-लिखे लोग तो लकीर काटने के लिए स्केल का प्रयोग करते हैं। पर ये महिलाएं दीवार के बोडरों को बिना स्केल के ही सीधा बनाती है। जैसे स्केल से बनाया गया हो।

जब मैं इन परिदृश्यों को देखती हूं तो सोचती हूं, अभी जब हम ईंट सीमेंट का घर बनाते तो एक-एक वस्तु को खरीदना पड़ता है तभी घर बना पाते हैं। वहीं पर मिट्टी के घरों को बनाने में आस-पास के प्राकृतिक वस्तुओं से मेहनत और सामूहिक अभिक्रम से बन जाते हैं। पर धीरे-धीरे यह परंपरा लुप्त होती जा रही है। यह कला और हुनर मिट्टी की घरों में ही बच सकती है। पक्के घरों में तो मजदूर लगाना पड़ता है। इस कला को बचाए रखना महत्वपूर्ण है। क्योंकि इस तरह के घरों को बनाने एवं सजाने से ही गांव भी स्वच्छ बनता है। ■

झारखंडी चित्रकला परंपरा में महिलाएं

शेखर

झारखंड की लोक चित्रकारी बहुत ही मनमोहक है जो कि यहां की नई पीढ़ी को अपनी संस्कृति, जल, जंगल तथा वनों में विचरण करनेवाले पशु-पक्षियों जीव-जंतुओं से जोड़ती है। झारखंड की लोक चित्रकला की अपनी एक अलग समृद्ध परंपरा है। जंगल और पहाड़ के बीच रहने वाले आदिवासी प्रकृति के सौंदर्य से सदैव अभिभूत रहते हैं। कला और जीवन साथ-साथ चलते हैं। प्राचीन काल से ही मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते, पेड़-पौधे, जंगल-पहाड, नदी-झरने, चाँद-तारे, धरती-आकाश आदि की सुंदरता को निहारता रहा है और प्रकृति में बिखरे सौंदर्य को अपनी आँखों और जीवन में बसाने का प्रयास करता रहा है। वन, पहाड़, नदी, झरने न केवल उसके हमजोली हैं बल्कि समय-समय पर ये उसके लिए अन्नदाता भी हैं। यही कारण है कि आदिवासी कला में प्रकृति के साथ साहचर्य की अभिव्यक्ति प्रचुर मात्रा में पाई जाती है।

प्राकृतिक सौंदर्य बोध के अलावा यहाँ की लोक चित्रकला में उनकी सामाजिक मान्यता, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास आदि भी प्रतिबिंबित होती है। आदिवासियों के आख्यान उनके मिथक, उनकी परम्पराएँ,उनकी कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, सौन्दर्यात्मक चेष्टाएँ और अनुष्ठानिक क्रियायों से ही आदिवासी संस्कृति आकार ग्रहण करती है। प्रकृति और जीवन से जुड़े विविध आयामों को सदा से आदिवासी समुदाय अपनी कलात्मक अभिरुचि के अनुसार रंगों और रेखाओं के माध्यम से प्रकट करता आया है। आदिवासी चित्रकला परम्परा सामुदायिक जीवन, सांस्कृतिक प्रतीकों तथा अनुभूतियों की सृजनात्मक अभिव्यक्तियां है।

संताली भित्ति-चित्रण

संताल समुदाय के लोग संतालपरगना तथा छोटानागपुर के पठारों में अनेक वर्षों से रहते चले आ रहे हैं। इनकी

भाषा तथा रहन-सहन व परम्परा अत्यंत समृद्ध हैं। संताल आदिवासी समुदाय में भित्ति- चित्रण की परम्परा अत्यंत प्राचीन समय से चली आ रही है।

संताल आदिवासी के चित्रों को दो क्षेत्रों में विभक्त कर देख सकते हैं- एक संतालपरगना का क्षेत्र तथा दूसरा छोटानागपुर का क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति भिन्न-भिन्न होने के कारण इन दोनों क्षेत्रों के चित्रों में भी कुछ भिन्नता दिखाई देती है। चित्रों में ही नहीं इनके रहन-सहन, घरों की बनावट, त्योहारों आदि में भी स्पष्ट भिन्नता परिलक्षित होती है। संतालपरगना के भित्ति-चित्रों में प्राचीनता का भाव है तो छोटानागपुर के भित्ति-चित्रण में आधुनिकता का भाव देखा जा सकता है। एक में 'आकार' की प्रधानता है तो दूसरे में 'रंग' की प्रधानता। यहां का चित्र 'उभार' लिए हुए है तो वहां का चित्र 'समतल' है।

संताली भित्ति चित्रों में फूल, पत्ती, लता, पौधा, मोर, मछली, बॉर्डर तथा ज्यामितिक आकृति विविध प्रकार से चित्रित की जाती है। संताली चित्रों में पशुओं का चित्रण अत्यंत कम जबकि मोर का चित्रण अधिसंख्य घरों की दीवारों पर मिलता है। मोर प्रायः जोड़े के रूप में पौधे के ऊपर चित्रित किया जाता है।

मोर के अतिरिक्त मछली के चित्रण की प्रधानता मिलती है। मछली भी मोर के समान प्रायः जोड़े में ही चित्रित की जाती है।

जादोपटिया पेंटिंग

पेंटिंग की यह शैली संतालपरगना के दुमका जिले के आसपास प्रचलित है। महिलाएं रंग निर्माण, पट निर्माण तथा चित्र बनाने में बराबर की भूमिका निभाती हैं। परंपरा के अनुसार पुरूष चित्र दिखाकर अन्न, मुर्गा, अंडा, पैसा तथा अन्य सामग्री जीवनयापन के लिए इकट्ठा करते हैं। इस पारंपरिक पेंटिंग शैली से जादो समुदाय के जुड़े रहने के कारण इसका नाम जादोपटिया पेंटिंग पड़ा। अधिकांशतः पट की लंबाई 6 फीट से 10 फीट तक होती है तथा चौड़ाई 8 इंच से 12 इंच तक होती है। एक कथा में कुल 6 से 10 चित्र तक होते हैं।

जादोपटिया पेंटिंग की विषय वस्तु पर चर्चा करें तो संताली मिथक एवं आस्था, जीवन-मृत्यु, यमराज द्वारा जीवन में किए गए गलत कामों के अनुसार दंड, उत्सव, जीवन दृष्टि नैतिक मूल्य, सौंदर्य, पृथ्वी व सृष्टि की उत्पत्ति, संतालों के पलायन की कथा केंद्रीय विषय रहे हैं। इसके अतिरिक्त संताली लोक-कथा का चित्रण सबसे आकर्षक विषय है। इस शैली में सिदो-कान्हू के विद्रोह की कथा का चित्रण भी मिलता है परंतु बहुत कम। महाभारत, रामायण, कृष्णलीला का चित्रण अधिक मिलता है। जादोपटिया पेंटिंग में विषय की इतनी विविधता के बावजूद इस पेंटिंग को मात्र मृत्यु के बाद जीवन में किए गए पापों के हिसाब से यमराज द्वारा दिया गया दंड के चित्रण के रूप में ही जाना जाता है। जादोपटिया पेंटिंग को यमगाथा के पर्याय के रूप में देखा जाता है जो इसका उचित मूल्यांकन नहीं है। चित्र में बॉर्डर अवश्य होता है तथा इसे बड़े मनोयोग से बनाया जाता है। चित्र में कथानुरूप मानवाकृति, पेड़, पशु-पक्षी व अन्य सहायक वस्तुओं का चित्रण तथा संयोजन किया जाता है।

जादोपटिया चित्रकारी प्राकृतिक रंगों से किया जाता है जिसमें लाल, भूरा, पीला, काला एवं हरे रंग का इस्तेमाल सबसे अधिक होता है। रंग मुख्य रूप से रंगीन पत्थर को घिसकर, पत्तों तथा छाल को उबालकर, चावल को पीसकर और जलाकर ही बनाये जाते हैं। कूंची के लिए बकरी की पूंछ के बालों का प्रयोग होता है। जादोपटिया चित्रकारी का कुछ उत्कृष्ट नमूना दुमका के ट्राइबल म्यूजियम में इस चित्रशैली को संग्रहित कर रखा गया है।

कोहबर कला

कोहबर का मूल संबंध प्रजनन से है। कोहबर का संबंध विवाह से है। विवाह किसी भी समाज का महत्वपूर्ण

अंग है, जिसके बिना मानव विकास, समाज व संस्कृति संभव नहीं है। कोहबर यानी खोहबर, जिसका शाब्दिक अर्थ है गुफा के विवाहित जोड़े। खोहबर ही आगे चलकर कोहबर हो गया। कोहबर में चित्र अवश्य बनाए जाते हैं। इस अवसर पर प्रायः संपूर्ण मिट्टी की दीवार पर विविध प्रकार के पारंपरिक प्रतीक बनाए जाते हैं। इस शैली के चित्रों का निर्माण संपूर्ण रूप से महिलाएं करती हैं। वैसे तो कोहबर घरों के भीतरी व बाहरी दोनों दीवारों पर चित्रित किये जाते हैं, परंतु घरों के आंतरिक दीवारों को काफी सजगता से चित्रित किया जाता है। चित्रों में मांगलिक चिन्हों को चित्रित किया जाता है। यह संपूर्ण क्रियाकलाप मुख्य रूप से फरवरी से जून माह के बीच संपन्न होते हैं। चित्रों

में कुछ आकृतियां समुदाय विशेष की होती हैं। जैसे मुंडा घरों में इंद्रधनुष, हवा में लहराते सर्प तथा उरांव घरों में लता, पुष्प एवं पूर्वज के गणचिन्ह को चित्रित किया जाता है। कोहबर के चित्रों में प्रायः रंगों का अभाव दिखता है। कहीं-कहीं ही कुछ रंगों का प्रयोग दिखता है। कोहबर चित्रों में प्रतीकों का निरूपण कंघी की सहायता से किया जाता है। सर्वप्रथम दीवार पर काले रंग का लेप चढ़ाया जाता है। सूखने के बाद सफेद रंग, लाइट क्रीम या पीले रंग का लेप चढ़ाया जाता है। लेप के गीला रहते ही कंघी के दांतों के माध्यम से विविध ज्यामितिक डिजाइन, फूल आदि बना दिया जाता है। कंघी से उकेरने के बाद काला रंग प्रमुखता से उभरता है। रंग भरने के लिए दातून की कूंची या फिर पुराने कपड़े को लकड़ी में लपेटकर बनाए गए ब्रश का प्रयोग किया जाता है। रंग में मुख्य रूप से प्राकृतिक रंगों का ही प्रयोग किया जाता है।

सोहराय चित्रकला

सोहराय कला का संबंध अन्न उत्पादन से है। कृषि के बिना समाज व संस्कृति का विकास संभव नहीं है। सोहराय चित्रों का निर्माण कृषि उत्सव के रूप में किया जाता है फसलों के कटाई के बाद घर में अनाज के भंडारण के समय इस उत्सव को मनाया जाता है दीपावली के अगले दिन देवी देवता की पूजा के साथ ही कृषि से जुड़े पशुओं की भी पूजा की जाती है इस दौरान विभिन्न तरह के भित्ति चित्र बनाए जाते हैं। यह चित्रकला प्रसिद्ध पर्व सोहराय से भी जुड़ा हुआ है। यह भित्ति चित्र घर की सजावट के साथ-साथ धार्मिक भावनाओं से भी जुड़े हुए होते हैं। सोहराय चित्र मुख्य रूप से खेती के बाद अक्तूबर-नवंबर माह में सोहराय पर्व के समय किया जाता है। घरों की सफाई की जाती है। घरों के दीवारों की मरम्मत कर लिपाई की जाती है। फिर शुरू होता है, इसे विभिन्न आकारों में चित्रित करने का काम। चित्रण के बाद इन्हें आकर्षक रंगों से सजाया जाता है। कोहबर के विपरीत सोहराय चित्र अत्यंत रंगीन होता है। कोहबर में सिकी देवी का विशेष चित्रण मिलता है जबकि सोहराय कला के देवता प्रजापति या पशुपति का चित्रण मिलता है पशुपति को सांड की पीठ पर खड़ा चित्रित किया जाता है। उनका शरीर डमरू की आकृति का होता है चित्रण के लिहाज से सोहराय चित्रकला की भी दो शैलियां हैं - पहला कुर्मी सोहराय कहलाता है तो दूसरा गंजू सोहराय कहलाता है। इन आकृतियों को इस्को (हजारीबाग के बड़कागांव के निकट प्रागैतिहासिक शिला-चित्र) में चित्रित गुफाचित्रों की आकृतियों के हजारों वर्षों की आवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। सोहराय के प्रत्येक भित्ति चित्र में रेखा, बिंदु, जानवर की आकृति और पौधों की प्रचुरता होती है जो अक्सर जीवन के पौराणिक मान्यता या पशुपति जैसे धार्मिक प्रतीकात्मक का प्रतिनिधित्व करती है।

सोहराय चित्रण में विविध मानवाकृतियां, विशालकाय घोड़े, हवा में लहराते सर्प, हिरण, बैल, मोर, पौधे, फूल, लहर, ज्यामितिक आकृति अत्यंत सुंदर तरीके से चित्रित की जाती है। चित्रों में शिव की प्रमुखता है। शिव पशुपति के रूप में अधिक दिखाये गए हैं। बैल पर सवार शिव। बैल के शरीर को गोल-गोल चकतों से सजाया जाता है। शिव को उत्पति और विध्वंस करने वाले रूपों में भी चित्रित करने की परंपरा है। इन चित्रों में जीवन को फूलों और पत्तियों में ढूंढा जा सकता है। इस क्षेत्र में प्रजापति, राना, तेली समुदाय, मांगलिक, अलंकरण के साथ पुष्प-विषयक एवं अलंकृत मोटिफ, मछली, रसोई के उपकरण आदि को बहुत सुंदरता से चित्रित करते हैं। गंझू और तुरी समुदाय के चित्रों में पशु और पुष्प की प्रधानता होती है।

बांदना चित्रकला

झारखंड के धान की बुआई के बाद करम परब और बांदना परब जैसे दो प्रसिद्ध त्योहारों की तैयारी करते हैं।

भादो महीने में 'करम पर्व' और आश्चर्य व भक्ति के माहौल में बांदना परब मनाया जाता है। करम पर्व में करम वृक्ष की पूजा की जाती है और खेती में इस्तेमाल होने वाले जानवरों को भी श्रद्धा अर्पित की जाती है। कार्तिक माह के अमावस्या से कुछ पूर्व से ही अपने घर की पशु जैसे गाय, बैल, भैंस आदि की सींग में तेल लगाया जाता है एवं घंटी या सजावट की वस्तुएं भी बैल-भैंस को बांधा जाता है। यह त्योहार ग्रामीण परंपराओं और प्रकृति के प्रति आदिवासी समाज की आस्था को दर्शाता है। त्योहार के कुछ दिन पूर्व से ही महिलाओं द्वारा घरों की मरम्मती जैसे मिट्टी, गोबर, रंग-रोगन आदि किया जाता है। गांव की महिलाएं दूर-दूर से कई प्रकार की मिट्टी लाकर अपने घरों की रंगाई पुताई करती है एवं कई प्रकार की चित्राकंन कला का प्रदर्शन भी अपने मकानों के दीवारों में करती है। ग्रामीण महिलाएं दीवारों को विविध रंगों, ज्यामितीय आकृतियों और अन्य चित्रों से सजाती हैं। मेथी के गीले अर्क से आकर्षक पैटर्न बनाए जाते हैं। पक्षियों, पशुओं, इंसानों या फूलों की आकृतियां उकेरी जाती हैं। दीवारों पर 'फ्रेस्को' शैली में पारंपरिक चित्रण किया जाता है, जिसमें चिकनी मिट्टी पर लेप चढ़ाया जाता है। इसके बाद दीवारों पर पत्तों, पशुपालन, और लोक कथाओं से जुड़े चित्र बनाए जाते हैं। घर के दरवाजे और आंगन में अल्पना बनाई जाती है, जिसमें देवी के पदचिह्न और धार्मिक प्रतीक शामिल होते हैं।यह आदिवासी कला उनके दैनिक जीवन और परंपराओं का अभिन्न हिस्सा है। त्योहारों और विशेष अवसरों पर यह कला उनके आंतरिक भाव, सृजनात्मकता और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक बन जाती है।

गोदना चित्रकला

गोदना चित्रकला की ही एक शैली है, जिसे लोग अपने शरीर के सौंदर्य को बढ़ाने के लिए बनवाते हैं झारखंड में बसने वाले विभिन्न जनजाति जैसे – संथाल, उरांव, हो, मुंडा आदि में गोदना गुदवाने की प्रथा हमेशा से प्रचलन में रही है। इन जनजातियों में किशोरी बालिकाएं विविध आकृति के चित्रात्मक गोदना अपने ललाट, कनपटी, हाथ, पैर आदि शरीर के विभिन्न अंगों पर गुदवाती हैं। झारखंड की जनजाति स्त्रियों में छाती, हाथ और पैरों पर गोदना गुदवा का प्रचलन हमेशा से रहा है। स्त्रियों के लिए इन आदिम जनजाति में विवाह पूर्व गोदना को शरीर पर अंकित करवाना अनिवार्य माना जाता है। विभिन्न जनजातियों की महिलाएं गले और छाती पर आभूषण की आकृति गुदवाती हैं तथा हाथ, पैर पर विभिन्न

प्रकार के फूल-पत्ती, पशु-पक्षी, ज्यामिति रेखाओं के साथ धार्मिक तथा गोत्र के प्रतीक को भी गोदना के रूप में गुदवा हैं। वे कोयले से बने काले रंग का प्रयोग कर सुई से गोदना गुदवाती थीं। उनके अनुसार ऐसा करने पर कुल देवता प्रसन्न होकर उनकी रक्षा करते हैं और सुख समृद्धि का रास्ता दिखलाते हैं। पहले के समय से वर्तमान समय में गोदना चित्रांकन की शैली में बहुत परिवर्तन देखने को मिलता है। जहां शरीर के बड़े भाग पर गोदना गुदवाने का प्रचलन था वहीं अब शिक्षा के प्रचार प्रसार और शहरीकरण के प्रभाव से गोदना के प्रचलन एवं लोकप्रियता में विशेष कमी आई है। वर्तमान में अब युवतियां ललाट, हाथ आदि अंगों पर सिर्फ प्रतीकात्मक रूप से छोटी आकृति का गोदना गुदवा रही हैं। ■

झारखंड के हस्तशिल्प

हस्तकला ने मानव जीवन में एक नया रंग, एक अप्रतिम आभा तथा बेजोड़ चमक पैदा की हैं। हस्तकला मानव जीवन के सहज प्रवृतियों से जुड़ा हुआ है। मानव ने प्रकृति के साथ रह कर अपने अनुकूल संसार को बनाया तथा सर्वप्रथम अपने जीवन को सुरक्षित किया। फिर अपने दैनिक जीवन को सजाया, संवारा इसी सजाने संवारने के क्रम में अनेक प्रकार की कलाओं का जन्म हुआ। जिससे मानव जीवन सरस और सौंदर्य से परिपूरित हुआ। इन्हीं कई कलाओं के उदभव के साथ हस्तकला भी मानव जीवन के साथ विकसित हुआ। हस्तकलाएं परंपराओं से उपजी हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। हस्तकला ने दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाले उपकरणों की उपयोगिता के साथ-साथ कलात्मक स्वरूप ग्रहण किया। हस्तकला मनुष्य के कौशल तथा श्रम की सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति तो है ही, हस्तकला हमें कठोर परिश्रम के प्रति सम्मान, हाथों से काम करने की अहमियत और प्रकृति के प्रति अनुराग का पाठ पढ़ाती हैं। हर हस्त कला अपने स्थानीय आम जन की जरूरत तथा उपयोग के हिसाब से स्थानीय उपलब्ध संसाधनों के अनुरूप विकसित हुई है। हर जगह की हस्तकलाएं अपने विशिष्ट रूप को ग्रहण कर अपनी एक अलग पहचान बनाती है।

हस्तकला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। सिंधु घाटी सभ्यता जब अपने उत्कर्ष पर थी तब हस्तशिल्प को प्रश्रय मिला था और यह समृद्ध रूप में विद्यमान था। उत्खनन में मिले मिट्टी, पत्थर व अन्य धातु के विभिन्न उपकरण व मूर्तियां इस बात के प्रमाण हैं। हस्तकला की परंपरा धार्मिक मान्यताओं तथा आम जन की जरूरतों के आसपास घूमती है।

झारखंड के हस्तशिल्प का देश और दुनिया में अपना विशिष्ट स्थान और पहचान है। खासकर आदिवासी बहुल राज्य होने के कारण यहां के हस्तशिल्प में एक सहज देशज सौंदर्य की झलक दिखती है। यहां के शिल्पकारों द्वारा निर्मित डोकरा शिल्प, मिट्टी शिल्प, बांस शिल्प, काष्ट शिल्प आदि को बड़े ही कुशलतापूर्वक बनाया जाता है। झारखंड में मलहार, मोहली, लुहार तथा कुम्भकार समुदाय विशेष रूप से हस्त निर्मित सामग्री तथा उपकरण तैयार करते हैं। जिंदगी भर अपने हाथ से काम करनेवाले ये शिल्पी अपने प्रत्येक शिल्प में अपनी विशिष्ट पहचान गढ़ते हैं। ये शिल्पी अपनी प्रत्येक रचना में अपनी ऊर्जा, कलात्मकता, रचनाशीलता उकेर कर दुनिया के सामने अपनी एक अनूठी पहचान पेश करते हैं।

डोकरा शिल्प

झारखंड की डोकरा कला की अपनी एक विशिष्ट पहचान है। डोकरा कला में अलौह धातु की कास्टिंग

में मोम की कास्टिंग तकनीक का उपयोग होता है। यह तकनीक काफी पुरानी है। भारत में पिछले पांच हजार वर्षों से इस तकनीक का उपयोग हो रहा है। इस तकनीक से निर्मित प्राचीनतम कलाकृतियों के नमूने के स्वरूप मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिली नृत्य करती लड़की है। झारखंड में भिन्न-भिन्न इलाके में मलहार समुदाय के लोग इस कार्य को करते हैं। यहां के डोकरा कला के शिल्पकारों

के शिल्प आदिम रूपाकार तथा लोक रूपांकणों से युक्त होते हैं। आज डोकरा कला की मांग राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय बाजार में अत्यधिक है। डोकरा कला में अधिकतर हिरण, घोड़ा, महिषासुर मर्दिनी, कछुआ, बारहसिंगा, आदिवासी युगल, सामूहिक नृत्य करते स्त्री-पुरुष, मगरमच्छ, चावल, धान आदि नापने के लिए पइला, सेरा आदि का निर्माण होता है। ताम्बा आधारित मिश्रित धातु की ढलाई की यह तकनीक चीन, मिस्र, मलेशिया, मध्य अमेरिका, नाइजेरिया तथा अन्य स्थानों पर भी पायी जाती है।

काष्ट शिल्प

झारखंड में प्रचुर जंगल है। झारखंड में ही एशिया

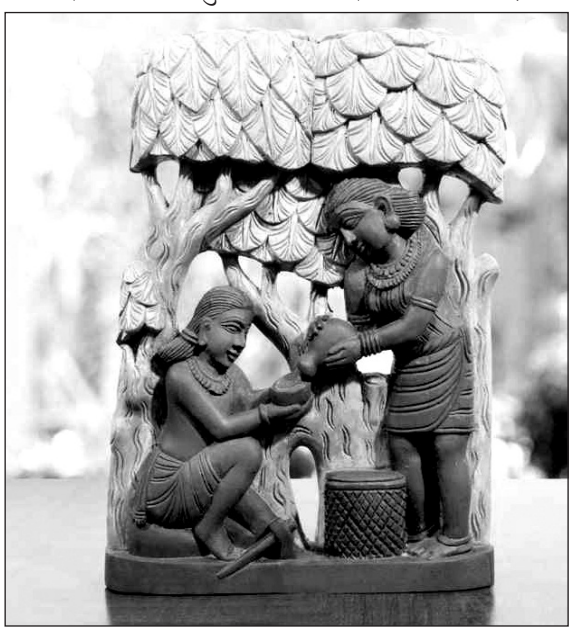

का प्रसिद्ध साल वन 'सारंडा' अवस्थित है। यहां के वनों में साल, गम्हार, बेर, बबूल और जामुन, आम व इमली जैसे पेड़ों की अधिकता है। इनमें गम्हार की लकड़ी अत्यंत हल्की होती है और मुलायम भी जो बहुत चिकनी भी हो सकती है। इसके अलावा 'कउहा' जैसे वृक्ष भी हैं जिसकी लकड़ी इतनी लचकदार व मुलायम लेकिन मजबूत होती है कि ग्रामीण इससे देसी वायलिन भी बनाते हैं। कच्चे माल की बहुलता के कारण यहां की काष्ट कला को पूर्ण रूप से विकसित होने का मौका मिला। सजावटी सामानों के साथ-साथ दैनिक जीवन में इस्तेमाल होने वाली चीजें- दरवाजा, खिड़की, बक्सा, रसोई बनाने का उपकरण आदि काफी कलात्मकता से बनाए जाते हैं। झारखंड में काष्ट शिल्प में काफी विविधता है, जो सुंदरता और उपयोगिता का बेजोड़ नमूना है। लकड़ियों पर बहुत ही करीने से नक्काशीदार पैटर्न बनाया जाता है। काष्ट कला में आमतौर पर बिरसा मुंडा की प्रतिमा, पीठ पर बच्चा और सिर पर घास का गट्ठर लिये महिला, पशुओं के गले में बांधी जाने वाली घंटी एवं विभिन्न प्रकार के मुखौटे आदि अत्यंत लोकप्रिय हैं।

बांस शिल्प

झारखंड में बांस शिल्प अपने पर्यावरणीय अनुकूलता के वजह से बहुत लोकप्रिय है। यहां के प्रायः सभी वनों में बांस प्रचुरता से उपलब्ध है। काष्ट शिल्प के बाद बांस से बनने वाले उपकरण झारखंड को एक विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं। आदिवासी समाज का प्राचीनतम यंत्र तीर-धनुष, बांसुरी, बीज बोने की पेरनी, टोकरी, मछली मारने का उपकरण आदि का निर्माण और उपयोग इस क्षेत्र में अत्यधिक होता है। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान में बांस से पारंपरिक सामग्रियों के अलावा संदूक, फूलदानी, टेबल लैंप, लैंप शेड, कुर्सी, टेबल, सोफा व पलंग इत्यादि का निर्माण भी हो रहा है। झारखंड के जंगल में पाया जाने वाला बांस काफी पतला और लचीला लेकिन मजबूत होता हैं। इसका प्रयोग कर झारखंड के कारीगर विभिन्न प्रकार के सजावटी तथा उपयोगी सामानों का निर्माण करते हैं। झारखंड में रहने

वाले मोहली समुदाय बांस शिल्प बनाने में निपुण हैं। इनकी आजीविका का मूल स्रोत बांस से बनने वाले सामान ही हैं।

मिट्टी शिल्प

झारखंड का मिट्टी शिल्प भी काफी प्राचीन और आकर्षक है क्योंकि मनुष्य गीली मिट्टी द्वारा अपने-अपने कौशल को सबसे सरल तरीके से अभिव्यक्त कर पाता

है। मिट्टी की चीजें बनाने की कला संभवतः मानव सभ्यता के सबसे पुराने आविष्कारों में से एक रही है। चूल्हे से लेकर घर तक आज भी मिट्टी से बने हुए मिल जाते हैं। हमारे देश में मिट्टी की चीजें बनाने का चलन बहुत पुराना है। हाथ से बनाए जाने वाले या कुम्हार के चाक पर बनाए जानेवाले दोनों तरह के बर्तन आज भी खूब प्रचलित हैं। मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में हुई खुदाई के दौरान अनेकों चीजें मिट्टी की बनीं हुई मिली हैं। ये प्राप्त अवशेष बतलाते हैं कि मिट्टी शिल्प की परंपरा कितनी प्राचीन है। उस समय के लोग मिट्टी की मुहरें, मटके तथा पानी के लिए घड़े आदि का प्रयोग करते थे। झारखंड में मिट्टी शिल्प की परम्परा प्रमुख रूप से कुम्हार समुदाय से जुड़ी हुई है। जनश्रुतियों में उल्लेख मिलता है कि ब्रम्हा ने मनुष्य को मिट्टी से बनाया था। कुम्हार भी मिट्टी से ही चीजे बनाता है। इसलिए कुम्हारों को प्रजापति भी कहा जाता है। ये शिल्पी मुख्य रूप से घड़ा, मिट्टी के कप, सुराही, दही जमाने के लिए हांड़ी, तवा, गिलास, ढक्कन, मूढ़ी भूनने की खपड़ी, कोहिया, डढ़का, चीलमा, ढिबरी तथा अन्य उपयोगी सामान बनाते हैं। इसे सुगढ़ आकार देते हैं तथा रंगों एवं डिजाइनों से अलंकृत करते हैं। घर को छारने के लिए खपड़ा का निर्माण करते हैं। पर्व-त्योहार, शादी-विवाह, जन्म-मृत्यु कोई भी संस्कार हो मिट्टी के बर्तन के बिना कार्य आज भी संपन्न नहीं होता है।

वस्त्र शिल्प

झारखंड में वस्त्र शिल्प की परंपरा भी काफी प्राचीन है। करीब डेढ़ लाख लोग आज इस कार्य से जुड़े हैं। झारखंड के बुनकर ज्यादातर खूंटी, देवघर, जमशेदपुर, साहेबगंज, रांची, हजारीबाग, बोकारो, गोड्डा, दुमका, लातेहार तथा खरसांवा-सरायकेला के इलाके में कपड़ा बुनाई का कार्य करते हैं। एक आंकड़े के अनुसार झारखंड में करीब सताइस हजार बुनकर तथा लगभग नौ हजार हस्तकरधा है। जिसके माध्यम से ये लोग गमछा, लुंगी, बेडसीट, साड़ी, दुपट्टा, वॉल हैंगिंग, सिल्क एवं कॉटन ड्रेस मेटिरियल आदि का निर्माण करते हैं। संताल परगना की संताल महिलाएं एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करती हैं जिसका नाम 'पंची-पाड़हांड' है। यह दो अलग-अलग वस्त्रों के नाम हैं जिनको मिलाकर पंची-पाड़हांड

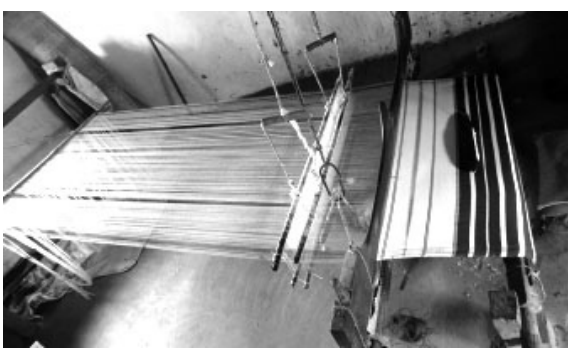

कहा जाता है। पाड़हांड अधोवस्त्र है जबकि पंची कमर से ऊपर धारण की जाती है। आमतौर पर यह हरे रंग का होता है परंतु नीले रंग या चारखाने की पाड़हांड अथवा सफेद रंग की पंची भी बनायी जाती है। यह वस्त्र अमूमन संताल परगना के बुनकर ही बनाते हैं। ये पारंपरिक बुनकर गांवों में हथकरघा पर ही इन वस्त्रों का निर्माण करते हैं। पूर्व में धागों को रंगने के लिए प्राकृतिक रंगों का इस्तेमाल किया जाता था। यह प्राकृतिक रंग कटहल की लकड़ी,

पलाश सहित अन्य कई किस्म के जंगली फूलों से प्राप्त की जाती थी। रंग के लिए लाह का इस्तेमाल भी आम था। रेशमी वस्त्रों में यह देशज तकनीक आज भी प्रयोग में लाई जाती है।

वस्त्र-शिल्प में वस्त्र उत्पादन तकनीकी विकास तथा आकर्षक डिजाइन विकसित करने के लिए बुनकर सेवा केन्द्र, भागलपुर के तहत साहेबगंज में कॉपरेटिव सोसाइटी, कार्यरत है। यहां निर्मित वस्त्रों को देश-विदेश में अच्छी ख्याति प्राप्त हुई है। जमशेदपुर तथा खरसांवा में वस्त्र रंगाई तथा छपाई का कार्य ज्यादा है।

झारखंड में निर्मित खिलौने

हस्तनिर्मित खिलौना झारखंड का एक प्रमुख शिल्प है। खिलौना बच्चों को कल्पनाशील तथा गतिशील बनाता है। झारखंड में मिट्टी द्वारा बनने वाले खिलौने स्थानीय पर्व-त्यौहारों, धार्मिक अनुष्ठानों के अनुरूप बनते हैं। मिट्टी से बनने वाले खिलौनों को शिल्पकार बहुत ही खूबसूरती के साथ रंगों से सजाते हैं तथा उस पर चमकदार पॉलिश भी चढ़ाते हैं। तरह-तरह के पशु-पक्षी तथा मानवाकृति बच्चों को खूब लुभाती है। मिट्टी के अतिरिक्त खिलौनों के निर्माण में लकड़ी का इस्तेमाल होता है। लकड़ी से बनी सामग्रियों में दुल्हन, लट्टू, हाथी, हिरण, गाड़ी, शेर तथा बंदर आदि की मांग बहुत अधिक है। रांची के समीप तुपुदाना में काष्ट शिल्प में आकर्षक खिलौनों के निर्माण केन्द्र हैं। राज्य की विभिन्न जनजातीय समाज में भी खिलौने बनाने की अपनी-अपनी परम्परा एवं विशेषज्ञता है।

जूट शिल्प

झारखंड के सुदूर इलाकों में जूट का प्रयोग पारंपरिक तौर पर रस्सी बनाने के लिए किया जाता है। परंतु अब जूट से अन्य सजावटी सामग्रियों का निर्माण भी हो रहा है। इन सामग्रियों में फैन्सी थैला, टेबल मैट, कोस्टर मैट, फाइल होल्डर, पोर्टफोलियो बैग, पर्स, डोर मैट तथा सुंदर खिलौने सम्मिलित हैं। जूट द्वारा निर्मित कारपेट आकर्षक व टिकाऊ होते हैं। इन सामग्रियों की विशेषता

यह है कि ये इको-फ्रेंडली हैं। इस कारण इनकी मांग अधिक होती है।

खजूर के पत्तों से बनी सामग्री

झारखंड के अधिसंख्य इलाकों में खजूर के पेड़ प्रचुरता से उपलब्ध हैं। खजूर के पत्ते मुलायम होते हैं जिनको सुखा कर अनेक प्रकार की वस्तुएं बनाई जाती हैं।

इनमें चटाई, टोकरी, बैग, बास्केट, डिनर केस, फोल्डिंग पंखा इत्यादि प्रमुख वस्तुएं हैं।

स्ट्रॉ आर्ट

समय की मांग को देखते हुए 'स्ट्रॉ आर्ट' झारखंड में हाल में विकसित शिल्प है। स्ट्रॉ यानी धान के पुआल की परत को फैला कर तथा ताप देकर समतल किया जाता है। शिल्पकार इसमें प्रारूप या चित्र बनाता है और उस चित्र को काट कर निकाल लेता है। इस चित्र को सामान्यतया काली पृष्ठभूमि के समतल सतह पर चिपकाया जाता है।

इसके बाद चित्र को फ्रेम से मढ़ दिया जाता है। इन चित्रों में जादूपेटिया पेंटिंग, कोहबर तथा सोहराय पेंटिंग जैसे पारंपरिक चित्रकला के डिजाइन भी बनने लगे हैं। अन्यथा पारंपरिक रूप में स्ट्रॉ आर्ट में ग्रामीण जीवन के दृश्य अधिकतर बनाये जाते हैं।

पारंपरिक आभूषण

अन्य प्रदेश के समान ही झारखंड में भी महिलाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करने की परंपरा है। आदिम जनजातियों में महिलाएं व पुरुष काठ से बनी मालाओं को बहुत शौक से धारण करते रहे हैं। संताल परगना की सौरिया पहाड़िया आदिम जनजाति में काठ की माला और काठ की कंघी का प्रचलन अत्यंत प्राचीन काल से रहा है। काठ की इन मालाओं के अतिरिक्त वन में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के फलों के बीज से भी ये आभूषण बनाये जाते हैं। यद्यपि इनका प्रचलन अब कम हो गया है तथापि इनको धारण किये हुए कुछ लोग अब भी मिल जाते हैं।

काठ की मालाओं के अतिरिक्त झारखंड में लाह, सीप, चांदी, सोना, ताम्बा, लोहा और कौड़ी के आभूषण धारण करने का प्रचलन है। झारखंडी परिवारों में चांदी, गिलट व सोना के पारंपरिक आभूषण आज भी देखने को मिलते हैं। ब्रिटिश काल में चांदी के रूपये की माला सौरिया पहाड़िया जैसी आदिम जनजाति समुदाय के बीच अत्यंत लोकप्रिय थी। अब भी किसी-किसी घर में यह देखी जा सकती है। लेकिन गरीबी और अज्ञानता की मार ने इन आभूषणों को महाजनों के संदूक तक पहुंचा दिया है।

धातु से बने आभूषणों में चांदी या गिलट के टोडोर जो मोटे कंगन जैसे दिखते हैं संताल परगना के संताल समुदाय के पुरुषों द्वारा धारण किये जाते थे। समय के बदलाव और गरीबी की मार ने इस परंपरा पर रोक लगा दी है।

संताल महिलाएं अपने जूड़े में चांदी से बने आभूषण खोंसती हैं। इन आभूषणों की बनावट बड़े हेयरपिन जैसी होती है लेकिन इस पिन को विभिन्न प्रकार से सजाया जाता है, जिस कारण इनका डिजाइन आम हेयरपिन से सर्वथा भिन्न और अनोखा है। इसी प्रकार चांदी से बने हार की बनावट भी तीन-चार लड़ियों में की जाती हैं जो धारण करने पर गले से लेकर नाभि से कुछ ही ऊपर तक झूलती हुई दिखाई देती हैं। इस प्रकार की माला संभवतः यहीं पहनी जाती है। गले में चांदी की हंसली भी जनजाति व सदान महिलाओं के बीच अत्यंत लोकप्रिय है।

कृषि में सहयोग करने वाले घरेलू पशुओं को कौड़ी की माला पहनाना झारखंड की प्राचीन परंपरा रही है। आज भी सोहराय जैसे पर्व में पशुओं को कौड़ी की माला के अतिरिक्त कांसे की घंटी या घुंघरू आदि पहना कर उनका सम्मान किया जाता है।

जनजातियों के दैनिक जीवन से जुड़े पारंपरिक हस्त-शिल्प

प्रत्येक जनजाति समूह अपने उपयोग की सामग्रियों के लिए प्रारंभ ही से स्वावलंबी रहे हैं। इन सामग्रियों में बरसात में उपयोग में आनेवाले बांस के चातोम (छाता) व गुंगु से लेकर हल, ओखल, रस्सी, चारपाई, चटाई, हल, दरवाजे का पल्ला, मचिया, मोटा कपड़ा सब शामिल हैं। ये सभी घरेलू अथवा कृषि उपयोग में आनेवाली सामग्रियां हैं।

संतालपरगना के गांवों में लगभग तीन-चार दशक पहले तक रसोई के लिए मिट्टी के बर्तनों का ही उपयोग किया जाता था। इन बर्तनों में धातु से बनी छोलनी अथवा कलछुल डालकर पक रही वस्तु को हिलाने-चलाने के लिए अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। इस कारण ग्रामीण इलाकों में आमतौर पर काष्ट से बने छोलनी व कलछुल का इस्तेमाल आज भी किया जाता है। रांची का हुंडरू जलप्रपात देखने आने वाले पर्यटकों के लिए काष्ट से निर्मित छोलनी, कलछुल, छुरी, कंघी इत्यादि आज भी उपलब्ध रहते हैं जिनको ग्रामीण शिल्पकार विक्रय के लिए प्रदर्शित करते हैं। इनकी फिनिशिंग इतनी बढ़िया होती है कि इनको मशीन पर बना हुआ का भ्रम हो सकता है।

बांस का काम आमतौर पर महली जनजाति समुदाय के लोग करते हैं जबकि वस्त्र बनाने के काम में चीक बड़ाईक जनजाति का सहयोग होता है। चीक बड़ाईक जनजाति समूह यद्यपि आज भी पारंपरिक उपयोग में आनेवाले मोटे

सूती वस्त्र बनाते हैं परंतु सूत, रंग आदि की बढ़ती कीमतों तथा मिल के सुपर-फाइन व छापे वाले रंगीन वस्त्रों की उपलब्धता ने उनके इस कुटीर उद्योग को लगभग विलुप्त होने की कगार पर पहुंचा दिया है। चीक बड़ाईक समुदाय द्वारा बनाये गये वस्त्र पारंपरिक विवाह के अवसर पर अब भी धारण किये जाते हैं एवं इनके द्वारा बनाये गये मोटे सूती चादर, शॉल, गमछा आदि की मांग ग्रामीण क्षेत्रों में बनी हुई है। वैसे शहरी क्षेत्र व महानगरों में इन जनजाति समुदायों द्वारा निर्मित सामग्रियां नवधनाढ्य घरों में सजावट की सामग्री के रूप में व्यवहार में लाई जा रही हैं।

बांस का काम करने वाली महली जनजाति का प्रमुख व्यवसाय बांस के उपकरण बनाना है। आमतौर पर प्रत्येक जनजाति गांवों में महली जनजाति समुदाय के दो-चार घर अवश्य मिल जाएंगे। ये मुख्य तौर पर घरेलू व कृषि उपयोग की सामग्रियां बनाते हैं जैसे टोकरी, सूप, मछली पकड़ने की कुमनी, चातोम इत्यादि। पहले इन समुदायों को गांव के प्रत्येक घर से एक निश्चित माप में धान देने का प्रावधान था और किसी-किसी गांव में उनको सर्वसम्मति से कृषि योग्य कुछ जमीन भी दी जाती थी। परंतु अभी पारंपरिक वस्तु-विनिमय प्रणाली में आये परिवर्त्तन की बयार सुदूर गांवों तक भी पहुंचने के कारण नकद भुगतान पर भी लेन-देन होने लगा है।

परिवर्त्तन की यह बयार पारंपरिक जनजातीय किसानों तक भी पहुंच चुकी है। हल, दरवाजे के पल्ले, मचिया, चारपायी जो पहले सामान्य जनजातीय किसानों द्वारा स्वयं बना लिए जाते थे अब हाट-बाजार में उपलब्ध होने के कारण वहीं से नकद भुगतान देकर खरीद लिये जाते हैं। अन्यथा प्रत्येक किसान के घर में बढ़ईगिरी में उपयोग में आनेवाले औजार जैसे बसुली, आरी इत्यादि सामान्य तौर पर पाये जाते थे और इसका उपयोग वे इन सामग्रियों को बनाने के लिए करते थे। इसके अतिरिक्त बनम, बांसुरी इत्यादि तो अब भी लोग स्वयं ही बना लेते हैं। झारखंड के सुदूर इलाकों में यह परंपरा अब भी जारी है।

इसी प्रकार बिरहोर जनजाति के लोग जंगल के पेड़ों व विभिन्न लताओं की छाल से मजबूत रस्सियां बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त वे ओखल-मूसली बनाने तथा छोटे वन्य जंतुओं को पकड़ने के लिए रस्सी का जाल बनाने में भी पारंगत हैं। परंतु जब से ग्रामीण क्षेत्रों में भी प्लास्टिक की रस्सी का प्रचलन बढ़ा है तब से देशज परंपरा से बने इन रस्सियों की मांग में गिरावट आई है। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि बिरहोर लोग बाजार से प्लास्टिक की खाली बोरियां खरीद कर लाते हैं और उसमें से धागा निकालकर रस्सी निर्माण के लिए विवश हैं।

प्रत्येक जनजाति समूह के गांवों में लोहरा जनजाति की उपस्थिति लगभग अनिवार्य होती थी। इसका प्रमुख कारण उनके द्वारा हल में लगने वाला फाल, बैलगाड़ी के पहिया में लगने वाला हाल, टांगी, फरसा, भाला, हंसुआ, चाकू-छुरी, सीकड़ जैसी लोहे की सामग्रियां इनके द्वारा ही अब भी बनाई जाती हैं।

आधुनिक प्रौद्योगिकी व तकनीकी प्रगति के दौर में ये शिल्पकार अब पहचान के संकट के दौर से गुजर रहे हैं तथापि उन्होंने अपना पुश्तैनी व्यवसाय अब तक जारी रखा है। कई देसी-विदेशी तथा नवबाजारवाद का आक्रमण झेलती झारखंड की हस्तकला की यह समृद्ध परम्परा तथा हस्तशिल्पी आज भी पूरी सार्थकता के साथ समाज में मौजूद है।

उनको बाजार उपलब्ध कराने तथा बाजार की मांग के अनुरूप सामग्री निर्माण तथा अभिनव प्रयोग हेतु सरकारी व गैर-सरकारी स्तर पर हस्तक्षेप हुए हैं। झारखंड में इन पारंपरिक शिल्पकारों के शिल्प को जीवित रखने के उद्देश्य से 'झारक्राफ्ट' नामक संस्था गठित की गयी है। इसके अतिरिक्त मिट्टी शिल्प से जुड़े लोगों को व्यवसायिक तौर पर अधिक कुशल व आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने के लिए झारखंड सरकार द्वारा मिट्टी कला आयोग का गठन किया जा रहा है। इस आयोग का मुख्यालय होटवार स्थित रामदयाल मुंडा कला भवन में होगा। सरकार के इस कदम से झारखंड में मिट्टी कला से जुड़े हजारों लोगों को आजीविका का अवसर मिल सकेगा और झारखंड की समृद्ध हस्तशिल्प को संरक्षण प्राप्त होगा तथा लुप्त होती विरासत बचाई जा सकेगी।

- आधी दुनिया डेस्क

मानव जीवन और बांस शिल्प

मनरखन राम किस्कू महली

मानव सभ्यता का विकास धीरे-धीरे कई युगों में हुआ है, मानव जब घुमंतु जंगली जीवन व्यतीत करता था, तभी उसका संबंध बांस से स्थापित हो गया। सर्वप्रथम खूंखार जंगली जानवरों से अपने प्राण की रक्षा के लिए उन्होंने बांस का ही डेटा-लाठी बनाया होगा। दरअसल प्रकृति में मनुष्य जाति के लिए बांस जैसी वनस्पति ईश्वरीय वरदान ही कहा जा सकता है। कारण, बांस से ही कई तरह की घरेलू आवश्यक वस्तुएँ बनती हैं। जब कृषि कार्य की शुरुआत भी नहीं हुई थी तभी से बांस के खूंटे और उसके फाड़ी गई फराठी से घेरा बनाकर आश्रय के लिए कुम्बा (घर) बनाने लगे थे। जमीन पर चार खूंटे आयताकार रूप में गाड़कर उन खूंटों पर नीचे से ऊपर तक सटा सटाकर फराठी को बाँधकर उसके ऊपर मिट्टी का गाढ़ा लेप देने पर सांप या चूहे असानी से अन्दर नहीं आ सकते थे। खोखले बांस के एक पोर को काटकर उसी पर तरल पदार्थ जैसे पानी और तेल रखे जाते थे।

असुर-लोहरा आदिवासियों द्वारा जब लोहे का आविष्कार किया गया, तब तो मनुष्य जाति के मानों पंख ही निकल आये लोहे की टांगी (कुल्हाड़ी) एवं कातु (छुरी) आदि औजार बनने लगे। टांगी के सहारे जंगल काटे जाने लगे जिससे कृषि योग्य जमीन का विस्तार द्रुतगति से होने लगा। कृषि कर्म द्वारा खाद्यान्न की प्रचुरता में वृद्धि होने लगी। खेतों से धान-गेहूं को खलिहान में लाकर दौनी की जाती थी, फिर उसे साफ करने के लिए सूप एवं अनाज को घर लाने के लिए टोकरी की आवश्यकता हुई। अपने किसान भाईयों की सहायता के लिए महली जाति के लोगों ने इन आवश्यकताओं की आपूर्ति की है। धान से चावल को अलग करने के लिए जब आधुनिक हॉलर मशीन का ईजाद नहीं हुआ था, तब धान कुटने की प्राचीन ढेकी का

प्रयोग होता था। धान कुटाई के बाद भूसी को चावल से अलग करने के लिए सूप ही एकमात्र सहारा था। अभी भी दोनों ही परिस्थितियों में धान की भूसी को चावल से अलग करने के लिए सूप ही उपयुक्त साधन माना जाता है। बांस निर्मित सूप पर ही छठ पूजा के अवसर पर फल-फूल और प्रसाद रखकर सूर्य देव को अर्पित की जाती है। वैसे ही बांस से निर्मित छोटी-बड़ी सभी टोकरियाँ बहुपयोगी वस्तुएँ हैं, घर पर अनाज को साल भर सहेज कर रखने के लिए बड़े आकर के डिमनी छटका या टोकरी की जरुरत होती है। ये सब बांस से ही बनाये जाते हैं। कहा गया है कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है, अतः किसान अपनी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण स्वयं कर लेता था। एक ही परिवार का कोई व्यक्ति यदि बांस शिल्प में निपुण हुआ तो वही यह काम करता था। बाद में पेशा आधारित जाति बनी तो वे अलग 'महली' जाति कहलाये।

आदि काल में जीवन जीने के लिए तीन मूलभूत आवश्यकताएं थी जैसे – रोटी कपड़ा और मकान। ये बातें वर्तमान समय में बहुत साधारण मालूम होती है, लेकिन आदिम युग में इनकी व्यवस्था करना कठिन था। मगर

आदिवासी समाज अपनी बुद्धि बल से इसे स्वयं कर लिया था रोटी के लिए फसल उगाना, ठंड और लाज बचाने के लिए कपड़े बनाना, पानी पीने के लिए घड़ा और घर छारने के लिए खपड़े के निर्माण को आदिवासियों की देन कहा जा सकता है। प्रत्येक शिल्प के लिए अलग-अलग शिल्पकार हुआ करते थे। लोहे के कारीगर को लौहकार, चमड़े के चर्मकार, सोना के स्वर्णकार, कुम्भ बनाने वाले को कुम्भकार और तन्तु धागा से कपड़े बनाने बालों को तन्तुवाय कहा जाता था। प्राचीन पालि भाषा उत्तर भारत में प्रचलित थी। इसके अनुसार बांस को वेणु-लु कहा जाता है। वेणु के शिल्पकारों को 'वेणुकार' कहा गया है।

आदिम शिकारी युग से ही महली लोगों ने मछली फंसाने के लिए बांस निर्मित कुमनी, कुरुआ और मुयू बना कर समाज को दिया है, शिकार किये गए मछली को रखने के लिए डोटि जैसे पात्र बनाया। घर में कपड़े रखने के लिए हड़का (बक्सा), गहने रखने के लिए छोटी पेटी, गर्मी से निजात पाने के लिए हवा झलने वाले बेनिया (पंखा), वर्षा से बचने के लिए बांस का मजबूत छाता, अनाज से बालू-कंकड़ चालकर अलग करने के लिए बांस की चलनी और तोता-मैना पालने वालों के लिए बांस का पिंजड़ा भी बांस शिल्पकारों की देन है। आदिवासी समाज में प्रिय शीतल पेय हड़िया को फिल्टर करने के लिए बांस की हड़िया चलनी भी उनकी देन है। जीवन में आमोद-प्रमोद के लिए संगीत प्रेमियों हेतु बांस की बाँसुरी और मुरली का निर्माण कर लोगों का शौक भी पूरा किया है। यही नहीं कातु और टांगी से खेल-खेल में शिकार करने के लिए तीर-धनुष जैसा हथियार भी महली लोगों के स्वविवेक का फल है, जब आधुनिक बन्दूक तोप नहीं बने थे तब महली लोगों द्वारा बांस के ही तीर-धनुष के आविष्कार से जंगल में शिकार करने में सुविधा हुई।

हमारे देश में बांस शिल्प को महत्वहीन कार्य समझा जाता है, मगर जापान जैसे विकसित देश में बांस शिल्प की बड़ी महत्ता है। पटना के हस्त शिल्प के निदेशक श्री उपेन्द्र महारथी जी का कहना है कि जापान में बांस शिल्प की प्रथा प्रचलित है। प्रत्येक अविवाहित कन्या इस कला में दक्षता

प्राप्त कर लेती है। वहाँ कुँवारी कन्या इस शिल्प में जितना ज्यादा निपुण होती है, उतना ही उत्तम रूप गुण सम्पन्न वर उसे प्राप्त होता है, वहाँ हर घर-गृहस्थी के प्रमुख कार्यों में बांस शिल्प को सर्वोपरि माना जाता है। उनका कहना है कि इसे मैंने अपनी आँखों से देखा है।

बांस की उपयोगिता इससे और स्पष्ट होगी, प्राचीन काल में जब उफनती वर्षाती नदी पार करने के लिए आज जैसे कोई नाव जहाज नहीं थे, तब लोग कई सूखे बांसों को एक साथ गट्ठर बाँधकर उसे नदी में तैराकर उसी पर बैठकर नदी के इस पार से उस पार चले जाते थे। अपने गन्तव्य स्थानों तक पहुँचने के लिए वही बांस का बोझा नाव का काम करता था। आम आदमी के लिए बांस तो बहुत ही उपयोगी वस्तु है।

आदिम युग से ही समाज की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति-समृद्धि के लिए प्राचीन शिल्प कलाएँ जैसे लौह शिल्प, बांस शिल्प, काष्ट शिल्प, कुम्भकारी एवं तन्तुवाय (कपड़े बनाने वाले) के अथक उद्यम ने अहम भूमिका अदा किये हैं। प्राचीन असुर-लोहरा को बिना फाऊंड्री फोर्ज टेक्नोलॉजी से प्रशिक्षण लिए ही सेल्फ मेड वैज्ञानिक कहना उपयुक्त होगा, जिसने सर्वप्रथम लोहे का आविष्कार किया है। कहा जाता है कि दक्षिण बिहार से प्राप्त लौह धातु के निर्यात से ही मगध के सम्राट अशोक की आर्थिक स्थिति

समृद्ध हुई थी। इसी से छोटे-छोटे किन्तु प्राचीन विभिन्न शिल्पकारों की महत्ता को आंका जा सकता है।

पुरातत्व विभाग को कहीं भी उत्खनन से बांस की वस्तुएँ नहीं मिलती हैं, क्योंकि हड्डी या मिट्टी के भाड़ ठोस होने के कारण हजारों वर्ष पूर्व के प्राप्त होते हैं, मगर बांस-वेणु शिल्प की प्राचीनता का विवरण अन्यान्य साहित्यिक स्त्रोतों से ही जाना जा सकता है। ये सब तो बांस शिल्पकारों ने ही बनाया होगा।

वेणु शिल्प अपने हजारों साल की लम्बी यात्रा कर आज जिस मुकाम पर पहुँचा है, वह मुकाम एक संकटपूर्ण संक्रमण का समय है। वन और कृषि सभ्यता के दौर में बांस शिल्पकारो का एक तरह से उत्कर्ष और सुखमय समय था। अब औद्योगिक युग में कृषि कर्म उपेक्षित समझा जाने लगा है। इससे कृषकों के उपयोगी वस्तुओं की मांग में ह्रास होता गया। इस युग में कपड़े के छाते, प्लास्टिक के सूप-टोकरी और डलिया का प्रचलन आया बड़े घरों में अब छठ-पूजा के अवसर पर पीतल व चांदी के बने सूप पर सूर्य देव को अर्घ्य अर्पण होने लगे हैं, तेज हवा-पानी से बचने के लिए बांस का छाता का स्थान फोल्डींग वाला छाता और ओवर कोट के साथ टोपी ने ले लिया। महली लोगों की पारंपरिक बांस शिल्पकारी पर कुठाराघात से इनकी आर्थिक स्थिति खराब हो गई। आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण इनकी शिक्षा पर बुरा असर पड़ा, जिससे उन्हें जीने के लिए दैनिक मजदूरी करने को बाध्य होना पड़ा।

आधुनिकीकरण और ग्लोबलाईजेशन के दौर में प्राचीन बांस शिल्प को आधुनिक रूप से सशक्त बनाने के लिए सरकारी मदद की आवश्यकता है। कुछ दिनों पूर्व सरकारी मदद से कांके प्रखंड के बाढ़ू ग्राम एवं ओरमांझी में बांस-बेंत प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये थे वे कुछ दिनों तक तो जैसे-तैसे चलते रहे किन्तु अब वे भी मृतप्राय पड़े हैं।

महलियों द्वारा बांस निर्मित वस्तुओं की खपत के लिए व्यापक बाजार न होने के कारण देहाती हाट-बाजारों में कम कीमत पर अपना सामान बेच दिया जाता है। उन्हें बिचौलिए-दलाल औने-पौने कीमत पर खरीद कर ऊंची कीमत पर बेचकर लाभ उठाते हैं। गरीब महली रात दिन मेहनत कर नमक-रोटी की जुगाड़ करता है तभी उसका चूल्हा जलता है एक महली व्यक्ति की सारी जिन्दगी लूट लाओ और कूट खाओ की स्थिति में ही गुजर जाती है। वह चाह कर भी बच्चों को शिक्षित नहीं बना पाता है। इस तरह उसकी सारी जिन्दगी यूं ही रोटी, कपड़ा और मकान की जरुरतों को पूरा करने में ही गुजर जाती है। सरकारी मदद से इन्दिरा आवास का प्रावधान तो है किन्तु वहाँ भी दलाल कुछ पैसे हड़प लेते हैं। कुछ ही पैसे मिल पाते हैं जिससे मकान आधा-अधूरा ही बन पाता है। अतः इन्दिरा आवास भी उनके लिए ऊंट के मुँह में जीरा ही है।

जिन्होंने समस्त मानव जाति के उत्थान उन्नति के लिए सर्वप्रथम टांगी छुरी दी है, और जिन्होंने सर्वप्रथम कृषि कर्म के लिए सूप-टोकरी दी है, सर्वप्रथम पानी पीने के लिए मिट्टी के भांड़ व घर छारने के लिए खपड़े दिये हैं, और ठंढ से बचने और लाज बचाने के लिए कपड़े दिये हैं, और जिन्होंने कंटीली-पथरीली जमीन पर निःसंकोच विचरण के लिए सर्वप्रथम जूते-चप्पल दिये हैं, उन सभी प्राचीन शिल्पकारों को शत्-शत् नमन करता हूँ, इन सभी शिल्पकारों ने समाज, संस्कृति, सभ्यता एवं आर्थिक उन्नति में अहम रोल अदा किया है। क्योंकि उनके सामूहिक उद्यम से ही मानव जाति 21वीं सदी तक पहुँच पाया है। एक विवेकशील सहृदय व्यक्ति उनके श्रम की कीमत कभी नहीं भूल सकता है। ■

झारखण्ड का पारंपरिक परिधान

सावित्री बड़ाईक

अन्न, वस्त्र और आवास मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताएं हैं। भोजन के बाद वस्त्र की महत्ता को समझते हुए आदि इंसानों ने पेड़ों की छाल, जानवर की खाल और पत्तों को वस्त्र की तरह प्रयोग किया। महिलाओं ने ही सबसे पहले बुनकरी प्रारंभ की। वस्त्र बनाए, परिधानों की डिजाईन तैयार की और आधुनिक रुप भी दिया। प्रारंभ में कपड़े ओढ़े जाते थे, व लपेटे जाते थे।

झारखण्ड का पारंपरिक वस्त्र निर्माण कला आज भी कई गांवों में जीवित है। झारखण्ड में वस्त्र निर्माण कला में चीक बड़ाईक समुदाय की महत्वपूर्ण भूमिका है। झारखण्ड के जनजातीय समुदाय विशेषकर चीक बड़ाईक अपने घरों में लकड़ी के बने करघों में स्त्री, पुरूष और बच्चों के पहनने के कपड़े बुनते हैं। लाल-लाल धारियों से बने ये कपड़े बड़े ही आकर्षक होते हैं। जिस प्रकार मणिपुर, नागालैण्ड और पूर्वोत्तर के वस्त्रों की अपनी विशिष्ट पहचान है। उसी प्रकार चीक बड़ाईकों द्वारा बनाये गये कपड़ों की अपनी पहचान है। हाथ से बुने हुए कपड़े झारखंड के आदिवासी समुदायों की परंपरा और संस्कृति को भी अभिव्यक्त करने का माध्यम है। इस पहनावे से व्यक्तियों की एक समूह के रुप में पहचान बनती है। गांवों में लगने वाले हाट बाजारों में विशेषकर सिमडेगा और ठेठईटांगर के हाट बाजारों में उनके द्वारा बनाये गए पारंपरिक परिधान आज भी खूब बिकते हैं। ये कपड़े काफी मजबूत और टिकाऊ होते हैं। बार-बार खरीदने की आवश्यकता नहीं होती है। इन कपड़ों से झारखण्ड की सांस्कृतिक समृद्धि में भी इजाफा हुआ है।

वर्तमान में सांस्कृतिक कार्यक्रमों में नाचने, गाने, बजाने के समय विशेषकर सरहुल और करम में, विभिन्न जतरा, ईंद मेला में चीक बड़ाईक द्वारा बनाये गए पारंपरिक कपड़े पहने जाते हैं- जैसे पड़िया साड़ी, गमछा

और सरंगाधारी। अब तो नवीनता और आवश्यकता के अनुरूप परदे, बिछावन, चादर, मेजपोश, पारंपरिक कोट, फ्रॉक, कुरती आदि भी बनाये जाने लगे हैं। झारखण्ड में महत्वपूर्ण व्यक्तित्व, विशिष्ट अतिथियों को सम्मानित करने के लिए भी चीक बड़ाईक द्वारा बनाये गए गमछा, जो लम्बाई और चौड़ाई में थोड़े बड़े होते हैं, उसे ही दिया जाता है। अब सौंदर्य प्रतियोगिताओं में भी इन पारंपरिक वस्त्रों का प्रयोग और प्रदर्शन आधुनिक तर्ज पर होने लगा है। कथाकार रोज केरकेट्टा ने अपनी कहानी 'बिरूवार गमछा' में इसी हुनरमंद चीक बड़ाईक के हुनर को सम्मान देने का कार्य किया है। यहां कथाकार ने गमछा को कथानायक बनाकर पेश किया है।

सरंगाधारी, रंग बिरंगा फुदना लगा हुआ पाड़ वाला कपड़ा होता है। तोलोंग वाला संरगाधारी विशेष अवसरों पर जैसे पर्व, त्योहार और पारम्परिक नृत्य करते समय पहना जाता था। अभी भी झारखण्ड में पारम्परिक नृत्य होते हैं उसमें चीक बड़ाईक के द्वारा बुना हुआ सरंगाधारी कपड़ा नर्तक पहनते हैं। बरकी मोटा चादर होता है जिसे उरांव, खड़िया, मुण्डा आदिवासी स्त्री, पुरूष शरीर के ऊपरी भाग को ढकने ओढ़ने और बिछाने में प्रयोग करते थे। पिछौरी छोटा चादर होता है उसे भी ओढ़ा जाता है।

गमछा झारखण्ड की संस्कृति में महत्वपूर्ण है। ताना-बाना में बुनकर पारंपरिक परिधानों में गीत रचते रहे हैं। करघे पर कविता की तरह पारंपरिक परिधानों का निर्माण होता रहा है। कपास उगाने वाले, रूई धुनने वाले, सूत बनाने वाले, चरखा चलाने वाले बुनकरों के परिधान पर आदि गीत रचे गये हैं। झारखंड के संदर्भ में विशेषकर मुंडा आदिवासी समुदाय बुनकरी और परिधानों से संबंधित गीत प्रायः रचते रहे हैं। आदिवासी महिलाएँ मोटिया साड़ी पहनती थी जिसे पड़िया कहा जाता है। मुण्डारी गीतों में भी पड़िया साड़ी का उल्लेख है। रामदयाल मुण्डा के गीत 'हमारे गांव का अखरा' की पंक्तियाँ हैं-

बिना किसी रस या इलि के
बिना किसी अर्क या ताड़ी के
लोग रीझ से झूम रहे
हम तुम्हारी राह देखते रहे
पाड़िया-पिछौरी शिशिर से भीग गए।

मोटिया साड़ी प्रायः सेरहुआ पाड़ (लाल) वाला होता है। इसे महिलाएँ घुटने से थोड़ा नीचे तक पहनती हैं। वर्तमान में पारम्परिक नृत्य के समय, शादी, विवाह के अवसर पर मॉयसारी के रूप में इसी साड़ी को दिया जाता है। चीक बड़ाईक सदियों से अपनी विशिष्ट बुनाई शैली को यथावत बनाए हुए हैं। इस समुदाय ने झारखण्डी संस्कृति की पहचान में बड़ा योगदान दिया है।

ईसा से 7000 वर्ष पूर्व बुनकर अपने पारंपरिक औजारों से कपड़ा बुन रहे थे। सिंधु घाटी सभ्यता में भी पूरे परिष्कार के साथ कपड़े बुने जाते थे। जानवरों की खाल, वृक्षों की छाल, बलकल, पत्तों से शरीर ढकने से लेकर आदि इंसानों ने वस्त्र तक की एक लंबी यात्रा तय की है। रहने के लिए मांद, मचान, कुंबा, मकान बनाया उसी तरह खेती करके मोटे अनाज से पेट भरा। यह एक सभ्यता की भी यात्रा है। कपास के फूल से फल बनता है फिर सूखने पर उससे रूई फूटता है। आखिरकार आदि इंसानो ने फूल को ही कपड़ा बनाया है। वृक्ष की छाल, जानवरों की खाल से फूल को बुनने, लपेटने, पहनने तक की यात्रा दरअसल एक सभ्यता की यात्रा भी है। एक मुण्डारी गीत है जिसका भावार्थ है -

हे बेटी तुम्हारी खुशी किस बात में है
हे बेटी तुम्हारा आनंद किस बात में है
हे बेटी खुशी तो धान के फूल में है
हे बेटी श्रंगार तो कपास के फूल में है

हे बेटी घास निकाने में ही खुशी है
हे बेटी सूत कातने में ही आनंद है

कपास की खेती के सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण बोलन तट पर स्थित मेहरगढ़ (वर्तमान पाकिस्तान) में मिलते हैं। वृहद झारखण्ड के बहुत बड़े हिस्से में कपास की खेती होती थी। रघुबीर प्रसाद की एक किताब है 'झारखण्ड झंकार' जो 1930 में प्रकाशित हुई थी। वे कांकेर रियासत के सुपरिटेंडेंट थे। उन्होंने जसपुर के बुनकरों के बारे में लिखा है- 'राज्य का मुख्य व्यवसाय कपड़ा बुनना था, जो चीक जाति के लोगों के हाथ में था। प्रायः लोग सूत कातकर चीकों के पास ले जाते थे और वे कपड़ा बुन देते थे। उराँव और कोल लोग तो जब तक उनके सूत का कपड़ा न बुन जाये तब तक चीक के घर ही में डेरा डाल देते थे। अधिकत्तर गमछा, धोती ही बुनी जाती है। चीक लोग बाहर का भी सूत खरीदकर कपड़ा बुनते और बेचते हैं।'

जसपुर राज्य के पश्चिम में उदयपुर राज्य था। वहां के परिधान के बारे उन्होंने लिखा है। उनके अनुसार मर्द धोती पहनते थे और पगड़ी बांधते थे। पिछौरी को शरीर पर डालते थे। स्त्रियाँ एक ही कपड़े को पहनने और ओढ़ने के काम में लाती थी। धान और कपास की खेती की जाती थी। उदयपुर राज्य में भी चीक और मेहर कपड़ा बुनते थे।

छोटानागपुर क्षेत्र में चार-पाँच गाँव के घेरे में चीक बड़ाईक परिवार के मुखिया गमछा, पड़िया, बरकी, पिछौरी आदि बुनते थे। बड़े आदिवासी समूह कपास उगाते थे। रहट द्वारा कपास से रुई की बीजों को अलग किया जाता था। रूई ओटते थे, पुनी बनाते थे। देशज चरखों से सूत कातते थे (उस समय हर परिवार के पास एक चरखा होता था)

और चीक बड़ाईक परिवार के पास धागा (सूत) पहुँचा आते थे। गाँव वाले स्वयं आकर कपड़ा ले जाते थे।

एक छोटी सी किताब है 'उन्नीसवी सदी का आँखों देखा चुटियानागपुर' जिसमें 1845-1895 तक का तत्कालीन छोटानागपुर का इतिहास दर्ज है। जिसमें वर्तमान लोहरदगा, हजारीबाग, पलामू, मानभूम, सिंहभूम, वर्तमान छोटानागपुर शामिल थे। यह विशेषकर जर्मन मिशन की तरफ से छापी गई है। इस पुस्तक में आदिवासी स्त्रियों और पुरूषों को पारंपरिक परिधान में दिखाया गया है। पुरूष पिछौरी का प्रयोग करते थे और स्त्रियाँ पारंपरिक पड़िया का। छोटानागपुर में धान लगाने के बाद मिलेट तीसरे साल तेलहन और चौथे साल कपास उपजाया जाता था। राँची के बड़ा तालाब के किनारे के खेतों में पौने दो सौ साल पूर्व ''आउसवे'' जो छोटानागपुर का कमिश्नर था उसने कपास की खेती करवाई थी।

बच्चों को कमर में करया पहनाया जाता था। इतना तक कि संत जान्स स्कूल जाने वाले बच्चों को भी करया पहनकर स्कूल जाना होता था। पुरूषों के लिए सारंगाधारी या करया होता था, वे उसे कमर पर बांधते थे। शेष बदन खुला रहता था। ठंड के समय ऊपर से पिछौरी ओढ़ लेते थे। सारंगाधारी एक साधारण बॉर्डर वाला एक फीट चौड़ा और तीन-चार फीट लंबा कपड़ा होता था। इसे कमर में लपेट कर आगे-पीछे झुलाया जाता था। इसे सभी अवसरों पर पहना जाता था। मुण्डा लोग इसे 'बोटोई' कहते हैं। 'बांसुरी बज रही है' पुस्तक में करया पर एक मुण्डारी गीत है जिसका भावार्थ है -

हमारे साथी जा रहे हैं
हे प्रिय, पेटी निकाल दो
हमारे संगी निकल रहे हैं
हे प्रिय हड़का खोल दो
पेटी में पाड़वाला करया है
हे प्रिय, पेटी निकाल दो
हड़का में रंगीन पगड़ी है
हे प्रिय हड़का खोल दो
एक बड़ा सारंगाधारी रंग बिरंगा फुदना लगा हुआ पाड़ वाला होता था जिसमें कमर के आगे पीछे पैर तक तोलोंग (झुलाया जाने वाला हिस्सा) झुलाया जाता था। तोलोंग वाला सारंगाधारी सरहुल, करम, झूमर नृत्य करते समय युवकों के द्वारा पहना जाता था। अभी भी पारंपरिक नृत्य में चीकबिनता सारंगाधारी झूमर नर्तक पहनते हैं। काण्डे मुण्डा के गीत 'माँ मुझे सोंगोल पाड़ साड़ी दो' की इन पंक्तियों को देखिए-

युवतियों के पास सोंगोल पाड़ साड़ी है
हे माँ मुझे भी सोंगोल पाड़ साड़ी चाहिए
युवकों के पास सोंगोल गमछा है
हे पिता मुझे सोंगोल गमछा चाहिए

बरकी मोटिया कपड़ा का बारह-तेरह हाथ लंबा और छः-सात हाथ चौड़ा चादर होता था। इसे पुरूष और महिलाएं दोनो पहन सकते थे। शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए इसका प्रयोग होता था। साथ ही ओढ़ने-बिछाने में भी बरकी का प्रयोग किया जाता था। पिछौरी छोटी चादर होती है। इसे भी तन ढ़कने और ओढ़ने में प्रयोग किया जाता है। इसकी लंबाई बरकी से अपेक्षाकृत कम होती है। गमछा सिर पर बांधने, कमर में लपेटने, कंधे में रखने और हाथ-पैर पोछने के काम आता था। पगड़ी 5-6 मीटर लंबी होती थी। इसमे मेहमान जाने, अखड़ा -जतरा जाने के समय पहना जाता था। काम करने के समय धूप से बचाव के लिए भी गमछे की पगड़ी बांधी जाती है। झारखण्ड आंदोलनकारियों का भी फेटा या पगड़ी और धोती प्रिय परिधान था। बिरसा मुण्डा की तस्वीर में भी गमछा की पगड़ी दिखाई देती है। काण्डे मुण्डा की गीत में आदिवासी युवती को पड़िया साड़ी पहनकर नृत्य में शामिल होने का आह्वान है-

युवती क्या तुम चिंतित हो
कि मुरझाई हुई दिखती हो
युवती क्या तुम नहीं सुन रही हो
कि बांसुरी और बनम बज रहे हैं
बांसुरी और बनम बज रहे हैं
बाल संवारो, खोपा सजाओ
और पड़िया कपड़ा पहनो।

एक दूसरे मुण्डारी गीत में पीड़िहातु के उदय लिखते हैं -

फूलों के झुलते झबरों से
खोपा मेरा भरा था
डाड़ी घाट में अपनी छाया देखती थी
चुन-चुनकर फूल पिरोती थी
सुख और उमंग भरे थे
पाड़िया पाचोन उड़ा था

'बांसुरी बज रही है' किताब में जितिया और जतरा के संदर्भ संबंध में आदिवासियों के मौसम ज्ञान को स्पष्ट करते हुए पड़िया की चर्चा की गई है -

जितिया देखते-देखते
पानी बरसने लगा
जतरा देखते-देखते
आंधी चलने लगी
भींग गया रेशम का कपड़ा
भींग गया रंगीन पड़िया

इस प्रकार पड़िया साड़ी की महत्ता मुण्डारी गीतों में बार-बार दोहराई गई है।

पड़िया साड़ी को मोटिया साड़ी भी कहते हैं। महिलाएं चीकबिनता बारह-तेरह हाथ लंबा मोटिया साड़ी पहनती थी। जिसे कमर में बांधकर उसी कपड़ा से शरीर के ऊपरी हिस्से को भी ढकती थी। साथ ही छोटे बच्चे को भी बांधती थी। पड़िया साड़ी अधिकत्तर सेरहुआ पाड़ वाली होती थी। इसे महिलाएँ घुटने तक या उससे थोड़ा नीचे तक पहनती थी। वर्तमान में इसे कुछ विशेष अवसरों जैसे झूमर नृत्य के समय पहना जाता है। विवाह शादी के समय मॉयसारी के रूप में इसी साड़ी को दिया जाता है।

इस प्रकार हमारी पारंपरिक परिधान हमारी संस्कृति और पहचान से जुड़ी हुई है। अखड़ा में पारंपरिक झारखण्डी परिधानों की अनिवार्यता से पारंपरिक चीकबिनता कपड़ों को नई पहचान मिली है। सिमडेगा से बीरू कपड़े, पड़िया, बिरूवार गमछा और महुँआडाड़ से छेछारी पड़िया और गमछा मंगाकर इसे नये कलेवर में नई सृजनशीलता के साथ आदिवासी डिजाईनरों के द्वारा सामने लाया जा रहा है। विशेषकर सरहुल, करम, जतरा मेला में इसे नये ढंग से पेश किया जा रहा है। शताब्दियों की बुनाई परंपरा को आज भी चीक बड़ाईक बुनकर समाज आत्मसात किये हुए हैं। इन बुनकरों के माध्यम से आज भी कपड़ा बुनाई परंपरा को जीवंत रूप में देखा जा सकता है। जिसका उल्लेख मुण्डारी गीतों में भी मिलता है। रामदयाल मुण्डा का एक गीत है 'क्या इधर ही राँची है?'-

पुरानी पड़ गई नाम चुटिया
इस युग में चलती है नाम हटिया
हे दीदी
छूट रही है लाल पड़िया
हम खो न जाएं कहीं
हे दीदी
कलयुग में हम सजग रहें।

दरअसल यह गीत सांस्कृतिक विशिष्टताओं को अक्षुण्ण रखने का संकेत है।

वस्त्र निर्माण एक लंबी प्रक्रिया है। कपास से धागा (सूत) बनाना, करघे पर बस्त्र की बुनाई, बुने बस्त्रों पर कारीगरी भिन्न-भिन्न समुदायों के द्वारा किया जाता था। छोटानागपुर में कपास मुण्डा, खड़िया और उराँव आदिवासी समुदाय उगाते थे जिनके पास सर्वाधिक जमीन थी। रूई से धागा बनाकर और कुछ धागों को रंगकर भी ये चीक बड़ाईक समुदाय को पहुँचाते थे। इससे सहयोगिता और सहकार की भावना का विकास होता था, हुनरमंदो का सम्मान होता था। हजारों साल पूर्व झारखंड के सघन जंगलों को साफ कर आदिवासी समूहों ने खेत बनाया। उनको लोहे के औजार, बांस के सामान, ओढ़ने-पहनने के कपड़े क्रमशः असुर-लोहरा, तुरी-महली, चीक-बड़ाईक आदि देते थे। ये शिल्पी समुदाय गाँव वालों के सम्मान और अनाज के हकदार थे। छोटानागपुर के प्रायः सभी जिलों के आदिवासी गाँवों में लोहरा, तुरी-महली, चीक बड़ाई, पांड़ समुदाय के परिवार आज भी रहते हैं। इन शिल्पियों, हुनरमंदों को उनके लोहे के सामान, बांस के सामान और कपड़ों के एवज में खड़ियाही डाली (20-30 सेर अनाज वाली टोकरी) और ढाराडाली (50-60 सेर

वाली बड़ी टोकरी) से अनाज (धान, उरद, मडुवा) दिया जाता था। गाँव में इनकी बड़ी इज्जत थी। आदिम समाज व्यवस्था में भी कृषक और बुनकर साथ-साथ रहे हैं।

छोटानागपुर में आज भी प्राचीन करघा प्रचलित है। जिसे स्थानीय भाषा में हाथाबाड़ी कहते हैं, करघालुंडरी कहते हैं। यह वर्तमान लूम का पूर्वज है, आधुनिक करघे का जन्म लकड़ी के इस साधारण चौखटे से ही हुआ है। वर्तमान करघे (पिटलूम, पावरलूम) के पूर्व यही हाथाबाड़ी और करघालुंडरी थे। वर्तमान करघे के इस विकास यात्रा को समझने के लिए झारखण्ड के छोटानागपुर के महुँआड़ांड़ और सिमडेगा की यात्रा अनिवार्य है।

उराँव, मुण्डा, खड़िया देशज रंग बना लेते थे। रंगाई हेतु बुनकरों को देने के लिए महुआड़ांड़ के उराँव समुदाय अपने स्वयं के रंग तैयार करते थे। यह पूर्णतया प्राकृतिक होती थी। प्रसिद्ध फिल्मकार बीजू टोप्पो की माँ सिसिलिया खलखो और पिता जी विक्टर टोप्पो बताते हैं कि महुआडांड़ में सेरहुआ रंग बनाने की देशज तकनीक थी। महुआड़ांड के आंवरा टोली, बोड़ाकोना, केनाटोला, चटकरपुर में कपड़ा-पड़िया, गमछा, पिछौरी, बरकी चीक बड़ाईक बुनते थे। वर्तमान में सिर्फ चटकपुर और बोड़ाकोना में कपड़े की बुनाई होती है। सेरहुआ रंग बनाने के लिए चैली पेड़ की जड़ को सुखाया जाता था। फिर एक प्रकार की टिकिया मिलती थी, जो नीले रंग की होती थी, उसके साथ एक लोकल गटी जो नदी में मिलने वाला चूना पत्थर होता था, उसे चैली पेड़ की जड़ के साथ मिलाकर 21 दिनों तक उबाला जाता था और प्रयोग करने से पहले भी 3-4 दिन तक उबालना पड़ता था। विक्टर टोप्पो बताते हैं कि वर्तमान बेतला पार्क में चैली पेड़ होते थे।

दो-ढाई सौ वर्ष पुराने मुड़मा जतरा में पुरूषों द्वारा सिर्फ परंपरागत वेश-भूषा धारण किया जाता था। धोती के साथ वे शरीर के ऊपरी हिस्से को ढकने के लिए पिछौरी का प्रयोग करते थे। लचड़ागढ़ के ईन्द मेला के लिए भी हजारों वर्षों से चीकबिनता पारंपरिक परिधानों का प्रयोग होता था। लचड़ागढ़, कारीमाटी, जलडेगा, कोलेबिरा, बानो, सिमडेगा, लोम्बोई के चीक बड़ाईकों द्वारा बुने गए सारंगाधारी बरकी, पिछौरी, गमछा का प्रयोग होता रहा है। 2 फरवरी को सिमडेगा की यात्रा के क्रम में मैंने देखा कि 26 जनवरी से लगने वाले गांधी मेला में सड़क के किनारे बिरूवार गमछा, पड़िया साड़ी के कई दुकाने लगी हुई थीं। पिछले वर्ष नेतरहाट फील्ड फाईरिंग रेंज के खिलाफ चलने वाले आंदोलन में महुआँडांड़ के जन संघर्ष समिति के युवा वोलेन्टियर्स के कंधों पर छेछाड़ी गमछा से बने झारखण्डी झोलों को देखा। झारखण्ड की अस्मिता, पहचान, सांस्कृतिक सामर्थ्य को प्रमुखता से जगह मिल रही है। आंदोलनधर्मिता, उत्सवधर्मिता से भी पारंपरिक परिधान जुड़े हुए हैं।

पावरलूम की वजह से बुनकर जनजातियों को बहुत नुकसान हुआ है। पहले तो हाट में गट्ठर बांधकर सारा कपड़ा बेच आते थे। परन्तु अब मशीनों से बने सस्ते कपड़ों के कारण इनके हुनर को धक्का पहुँचा है। पड़िया मॉयसारी जो प्रत्येक लड़की के विवाह के समय अनिवार्य होती थी। उसके प्रचलन में भी कमी आई है।

विशेषकर पचास-साठ-सत्तर के दशक में हंसा पाड़, नीला पाड़, मेंजूर पाड़ वाली सूती साड़ी आ गई। इससे पड़िया बुनने वाले करघा-लुंडरी वालों के दिन खत्म हो गए। कपड़ों के रूप, रंग, डिजाईन में भी परिवर्तन आया। पुरूषों के लिए पैंट और शर्ट का प्रचलन बढ़ा, इससे पारंपरिक बुनकरी पर सीधा आघात पहुँचा। गाँवों में जो भाईचारा, सहयोग की भावना थी, उसमें भी कमी आई। चीक बड़ाईक कारीगरों को कपड़ा मिल और कारखानों ने निगल लिया। पावरलूम के कारण वृहद झारखण्ड के बहुत से आदिवासी बुनकर समुदाय को असम, बंगाल के चाय बगान, मॉरीशस के हिलकुली और अंडमान-निकोबार तक विस्थापित होना पड़ा। जमीन की कम उपलब्धता के कारण ईंट-भट्ठों में ये रोजगार के विकल्प को तलाश रहे हैं। साथ ही पंजाब के खेतों तक मजदूरों के रुप में खटने के लिए अभिशप्त हैं।

चीक बड़ाईक जो कपड़े बनाते थे, वे इतने मजबूत होते थे कि 3-4 साल तक कपड़े खरीदने की जरूरत नहीं पड़ती थी। ये कपड़े पर्यावरण, प्रकृति हितैषी भी होते थे।

इन कपड़ों को पहनकर किसी की आग से जलकर मौत भी नहीं हुई। कपड़े कभी बेकार नहीं होते थे। गुदड़ी में भी काम में आते थे।

'आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े स्वयं बुने हैं।' भवानी प्रसाद मिश्र की इस कविता पंक्ति से ज्ञात होता है कि वस्त्र निर्माण कला सभ्यता की विकास यात्रा से पूर्णतः जुड़ी हुई है। झारखण्ड के आदिवासी समुदायों के पास अपनी विश्व दृष्टि है। पारंपरिक ज्ञान-विज्ञान तकनीक है, बांस कला, वस्त्र निर्माण कला की अपनी समृद्ध विरासत है। वे कहीं से भी असभ्य, मूर्ख नहीं हैं। औद्योगिक क्रांति ने और भूमंडलीकरण की पिछले 32 सालों की उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया ने आदिवासियों की गौरवचेतना में कमी की है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी परंपराओं, समृद्ध विरासत की ओर ध्यान दें और पुरखों के ज्ञान, हुनर और तकनीक के प्रति सम्मान की भावना रखें। देशज खान-पान, पारंपरिक नृत्य, पारंपरिक परिधान, झारखंड की संस्कृति का ताना-बाना है। पारंपरिक परिधान के निर्माण में सूत की कताई, रंगाई और बुनाई में किसान, आदिवासी समुदायों और बुनकरों के बीच आदि काल से सहभागिता रही है। अन्य रचनात्मक कार्यों की तरह पारंपरिक वस्त्र निर्माण कला से आजीविका के साथ सृजन का आनंद भी प्राप्त होता है। रचने, गढ़ने, बुनने का आनंद सृजनशीलता से ही संभव है।

सूत-धागा को आदि धरम परंपरा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सूत, अरवा चावल, पानी, धूप-धूवन (सखुआ के पेड़ से निकला मोम) सिंङबोंगा, बुरुबोङा को समर्पित किया जाता है। आदिवासी परंपरा में कपास के सूत की महत्ता निर्विवाद है। फाह्यान ने भी अपने यात्रा वृतांत में बताया है कि आदिवासी मोटे कपड़े धारण करते थे। 'बांसुरी बज रही' किताब में कपास के सूत पर भी गीत है -

एक सूत दो सूत
सूत में साखू के फूल गुंथे हुए हैं
एक तीली दो तीली
तीली में गुच्छे बनाए हुए हैं
सूत में जो साखू के फूल गुत्थे हैं
वे सूत में ही सूख गए
तीली में जो कोमल पल्लवों का गुच्छा बनाया है
वह तीली में ही कुम्हला गया।

आदिवासी जीवन में जन्म से मृत्यु तक जितनी भी क्रियाएँ होती हैं सबमें कला है। संस्कृति आदिवासियों के जीवन की कला है और विज्ञान भी। प्रारंभ में वस्त्र उत्पादन के सारे संसाधन कृषि-खेती से, जंगल से प्राप्त होते थे। आदि बुनकरों ने मौसम, जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर परिधानों का विकास किया।

महात्मा गांधी ने हाथ से कता सूत और हाथ से बुने कपड़े को आजादी का मूल मंत्र बनाया और स्वदेशी वस्त्रों के महत्व को समझा। वर्तमान में सांस्कृतिक सामर्थ्य के इजाफा के लिए कला संस्कृति मंत्रालय को बुनकरों के हुनर, आदि वस्त्र निर्माण कला को महत्व देना चाहिए और उनके लिए पारंपरिक कपड़ा बोर्ड की भी स्थापना होनी चाहिए। साथ ही बुनकर चीक बड़ाईक लोगों को जमीन के भी कुछ पट्टे दिये जाने चाहिए क्योंकि झारखण्ड के सांस्कृतिक सामर्थ्य में बुनकर समुदाय चीक बड़ाईकों का बहुत बड़ा योगदान है। झारखण्ड के वस्त्र निर्माण कला को पारंपरिक परिधानों के इस हुनर को लुप्तप्राय होने से बचाना निहायत ही जरूरी है। करघा-लुंडरी को जो घर के एक कोने में पड़े हुए हैं पुरखों की उस विरासत को चीक बड़ाईक समुदाय अपनी भावी पीढ़ी को सौंपे। चीक बड़ाईक समुदाय को याद रखना होगा कि उनके पुरखों को इसी करघा लुंडरी से आजीविका प्राप्त होती थी साथ ही वे सम्मान और पहचान के भी हकदार थे। अपनी वर्तमान पीढ़ी को अपनी परंपरा पर गर्व करना सिखाए। साथ ही पारंपरिक परिधानों का विभिन्न अवसरों पर प्रयोग करना चाहिए। तभी इस पारंपरिक वस्त्र निर्माण कला को पुनर्जीवित किया जा सकता है। इससे झारखण्ड के सांस्कृतिक सामर्थ्य में भी वृद्धि होगी। पारंपरिक परिधान लुप्तप्राय नहीं होंगे और झारखण्ड की सांस्कृतिक अस्मिता अक्षुण्ण रहेगी। ■

एक अनसुनी और अनकही दास्तान

दिव्या गुप्ता

टाटानगर की यात्रा जब शुरू हुई तो शुरुआत सामान्य ही थी। समय पर भागलपुर से ट्रेन हावड़ा के लिए मिल गई थी। हावड़ा से जनशताब्दी एक्सप्रेस में टिकट पहले से ही ले रखा था, पर सुबह 03.30 बजे हावड़ा पहुँच कर पता चला, वह देर से चलने वाली है। खैर, दूसरी ट्रेन में लड़ते-भिड़ते जनरल बोगी में जगह लेकर मैं जमशेदपुर पहुँच गई। जमशेदपुर पहुँच कर पता चला कि इस तरफ़ की ट्रेन हमेशा ही देर करती है। जमशेदपुर में ठंड बहुत थी। चूंकि स्टेशन से 'विकास भारती' की ज्यादा दूरी नहीं थी, इसलिए आसपास का बाज़ार ज्यादा नहीं देख पाई। जमशेदपुर के 'विकास भारती' में कार्यशाला का प्रारंभ सामान्य तरीके से जैसे हर बार होता है, वैसे ही हुआ। विकास भारती के पीछे फल और सब्ज़ियों का बगीचा था। इसमें टमाटर, मिर्च, पालक, लहसुन, लौकी, अमरूद, केला आदि लगे हुए थे। विकास भारती में जितने दिनों तक हम थे, हमने इसी बगीचे की सब्जियाँ खाईं।

तीसरे दिन हम लोग क्षेत्र-भ्रमण के लिए गए। जमशेदपुर एक शहर है जिसमें सामान्य शहर की तरह जो भी सुविधाएँ होनी चाहिए थीं, वे उपलब्ध थीं। परंतु उसका गाँव उससे थोड़ा अलग है। हमारा उद्देश्य गाँव की तरफ़ जाना था। मैं, श्रावणी आंटी के साथ 'पाटकिता' गाँव गई। गाँव के रास्ते में सड़क के दोनों ओर पेड़-पौधे और झाड़ियाँ थे। मानो हम किसी जंगल की तरफ़ बढ़े जा रहे हैं। आसपास ज्यादा लोग नहीं थे। फिर धीरे-धीरे आबादी और बसावट आते गये। बीच-बीच में सड़क के किनारे जंगल आता था। हम गाँव की तरफ बढ़ रहे थे तो हमने रास्ते में सड़क किनारे मिट्टी के घर में दो बहनों को दीवार पर रंग द्वारा सजावट करते हुए देखा। मैं उनके पास गई तो उनके चेहरे पर जिज्ञासा और एक मुस्कान थी। हमने उनका नाम

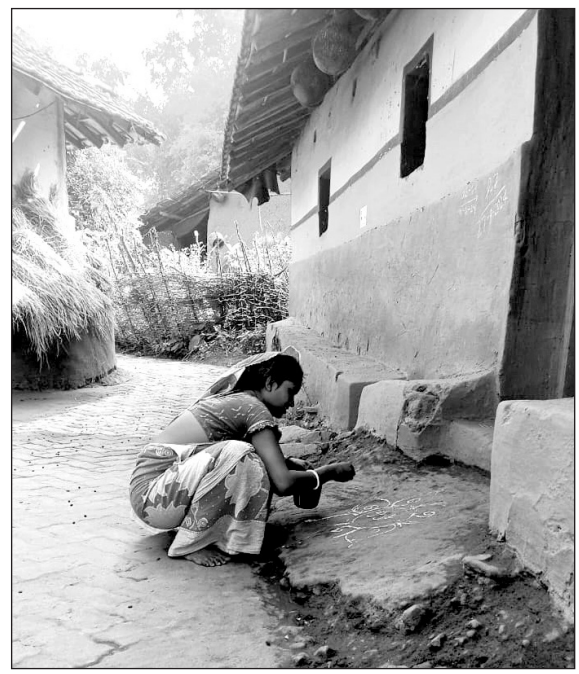

पूछा, एक लड़की का नाम नेहा, दूसरी का नाम मोनिका और उसके भाई का नाम विशाल था। जब हमने उनसे इस सजावट का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि पाँच साल में एक बार एक त्योहार आता है। उसी की तैयारी चल रही है। दोनों ने कहा कि जितने भी रिश्तेदार हैं, कल सभी आएँगे। जिन बहनों का विवाह हो चुका है, वह भी अपने पति के साथ और बुआ भी अपने परिवार के साथ आएँगी। मेरे लिए आश्चर्य की बात यह थी कि उनके पास रंग, तूलिका के अलावा किसी तरह का कोई भी साँचा न था। वे दीवार पर रेखाएँ भी धागे द्वारा बना रहीं थीं। उनकी उम्र बारह-चौदह वर्ष से अधिक न होगी। उनके साथ उनका भाई भी था जो छह-सात वर्ष का था। वे साथ मिलकर कलाकारी कर रहे थे। उन बच्चियों ने किसी शिल्पी से कुछ सीखा होगा, यह मुझे नहीं लगता। उन्होंने अपने जीवन में परिवार और

आसपास के लोगों से ही सीखा होगा। पहले पारम्परिक रंग फूल एवं मिट्टी से बनाया जाता था परंतु अब बाज़ार की सुविधा के कारण बना-बनाया रंग ही वे ले आते हैं और अपनी मिट्टी की दीवार पर अपनी कला बिखेरते हैं।

इसके थोड़ी दूर पर एक और घर मिला जिसमें एक गृहिणी अपने घर की दीवार पर पारम्परिक और आधुनिक मिश्रित कला बिखेर रही थीं। वे कुछ अधिक समृद्ध थे। घर मिट्टी की थी, परंतु जगह अधिक थी। हमें घर के अंदर जाकर छत के खपरैल ठीक करते हुए पुरुष दिखे। उनकी रसोई घर में चूल्हे और मिट्टी के बर्तन थे। कई सुराहियाँ बाँस से लटकी हुई नज़र आईं जो वास्तव में कबूतर का घोंसले थे। जहाँ हम खड़े थे उसके पास एक अंधेरा कमरा था जिसमें बिना पूछे मैं चली गई। शायद वहाँ जाना निषेध था। उसमें एक ओर पत्ते से बने दोने और पत्तल रखे हुए थे। दूसरी तरफ चार-पाँच मिट्टी की सुराही थी। उसके अंदर चावल था जिसे कई दिनों से ढककर रखा गया था। इसका प्रयोग अगले दिन के त्योहार में पुरुषों को प्रसाद के रूप में देने के लिए किया जाता है। इसे वहाँ की सामान्य भाषा में 'हँड़िया' कहा जाता है। इसे अधिक पीकर आदिवासी समाज में लोग नशा करते हैं। इसके नशे ने ही कई तरह से आदिवासियों का जीवन नष्ट किया है। जिस गाँव हम जा रहे थे, उस गाँव में ज्यादातर लोग खेती से अपना जीवन यापन करते हैं। खेती और हँड़िया ही इनके जीवन की दिनचर्या बनती जा रही है।

इस तरह हमलोग पटकिता गाँव पहुँचे। इस गाँव के प्रधान की मृत्यु होने के कारण सचिवालय में ताला लगा था। सचिवालय के बाहर गुनगुनी धूप में मासूम बकरी के बच्चे आपस में खेलते दिखे। गाँव में जाते ही मोबाईल का नेटवर्क गायब हो गया था। जब मैंने एक ग्रामीण महिला से पूछा कि 'नेटवर्क किस तरफ आएगा?' तो उन्होंने इमली के पेड़ की तरफ़ इशारा किया। मैं उस ओर नेटवर्क की तलाश में निकल पड़ी। नेटवर्क का तो ज्यादा पता न चला पर इमली ज़रूर मिल गयी। वह ऊपर पेड़ पर लटक रही थी। मुझे आसपास झाड़ दिखे पर वैसा कोई डंडा नहीं दिखा जिससे मैं इमली तोड़ सकूँ। मैंने एक-दो पत्थर भी उठा कर मारा, पर असफल रही। तभी दो लड़कियाँ मेरी ओर आते हुए मुझे दिखाई दीं। एक लड़की विवाहित गृहिणी लग रही थी और दूसरी कॉलेज की विद्यार्थी। मुझे देखते ही उन्होंने यह तो समझ लिया कि मैं बाहर से आई हूँ। उन्होंने पूछा आप यहाँ क्यों आईं हैं? मैंने अपने आने का उद्देश्य बताया। इसके साथ ही इमली पाने की लालसा भी ज़ाहिर की। उस लड़की ने अगल-बगल देखा और एक लकड़ी उठा लाई और एक से दो बार की वार में ही उसने इमली तोड़कर मुझे दे दिया। उसने इमली तोड़ने से पूर्व मुझसे यह पूछा भी था कि आपको कितनी इमली चाहिए? ज्यादा लेकर खराब नहीं करना है। यही हमारे यहाँ का सिद्धांत है। इमली तोड़ कर देने के बाद वह तो चली गई और जाते-जाते अपने अंदर के आदिवासियत की एक सीख मुझे दे गई। मुझे लगा शहर ने ज्यादा से ज्यादा जमा करने की प्रवृत्ति दी है जबकि यहाँ किसी बात की लूट की कोई होड़ नहीं मची है।

इमली खट्टी और कच्ची थी जिसे मैंने खा लिया। सामने एक सुंदर साफ-सुथरा तालाब था। मैं तालाब और उसमें खिले कमल देखने के लिए बढ़ चली। उसके आगे दूर एक पहाड़ था। प्रकृति की सुंदर छवि धूप में खिलखिला रही थी। जाने का मन न था पर देर ज्यादा न हो इसीलिए मैं वापस लौट आई। लौटते ही एक स्थानीय निवासी से भेंट हुई। उनसे गाँव की व्यवस्था एवं नियम के संबंध में मेरी काफ़ी बातचीत हुई। उस व्यक्ति ने स्वयं घर से भाग कर विवाह किया था परन्तु आदिवासी महिलाओं को ऐसा अधिकार नहीं है। उसके तीन बच्चे थे। सारी बातचीत का विषय सगोत्रीय विवाह न होना, पुरुषों का ज़मीन पर अधिकार, हल चलाने के अधिकार, छत छारने के अधिकार से संबंधित था। इन सारी व्यवस्था में जब मैंने बदलाव के संबंध में पूछा तो उन्होंने कहा कि इन सबके बीच कोई परिवर्तन करें तो संभव हो सकता है। अकेले हमारे करने से नहीं होगा। उन्होंने यह भी बताया कि आप आदिवासी हो या न हो। आप यहाँ रहना चाहें तो रह सकते हैं। खेतों में काम करना होगा और सामुदायिक तौर पर सहयोग के साथ रहना होगा।

जहाँ मैं बात कर रही थी उसी के ठीक सामने वाले घर की महिला गोबर से अपना आँगन लीप रही थी। वह चापाकल से पानी भरने आईं थीं। उनसे बात करते हुए पता चला कि यह इमली का पेड़ इनका ही है। उनके घर की तरफ़ बढ़ते हुए, उन्होंने अपने आँगन के बगीचे दिखाए। उनके घर के पुरुषों से भी काफ़ी बातचीत हुई। उन्होंने कहा कि सामाजिक व्यवस्था में पुरुष - वर्चस्व पर अकेले नहीं सोचा जा सकता है। सभी के सामुदायिक प्रयोग से परिवर्तन संभव हो पाएगा। वे अपने स्तर पर अपनी पत्नी की सहायता करते हैं। उनका पुत्र आठ-दस वर्ष का है जिसका नाम विष्णु है। वह मेरा दोस्त बन गया। जब मैंने उससे पीने के लिए पानी माँगा तो वह अंदर चला गया और थोड़ी देर से पानी लेकर आया। पानी गर्म था। उसमें मिट्टी की खुशबू आ रही थी। उसने मुझे चूल्हे में लकड़ी जला कर झरने का पानी गर्म करके दिया था। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था कि इतने छोटे लड़के को चूल्हा जलाने आता है। विष्णु के पिता ने बताया कि हम अपने बच्चों को साथ-साथ खेतों में ले जाते हैं। घरेलू कामों में सहयोग के लिए कहते हैं। यह उनके जीवन जीने का तरीका है। उनका मत है कि जैसे विद्यालयी शिक्षा आवश्यक है, वैसे ही घर, खेत, द्वार के काम जीवन में शिक्षा का हिस्सा है। इससे अपने परिवार, समाज, परंपरा और जीवनशैली के प्रति आस्था एवं विश्वास बच्चों में बढ़ते हैं। उनके आँगन में उबले धान सूखने के लिए रखे हुए थे जिसे कोई बच्चा हाथ नहीं लगा रहा था क्योंकि उसके सूखने का महत्त्व और ज़रूरत वे जानते थे।

इसके अलावा मैंने देखा। अंदर संयुक्त परिवार की गृहस्थी जमी हुई थी। भ्रमण का दिन बृहस्पतिवार था। इस दिन पूरे घर को गोबर से लीप कर चावल पीस कर आँगन, चौखट, द्वार पर अल्पना बनाया जाती है। उस घर की महिलाओं से बातचीत के दौरान उन्होंने यह बताया कि उन्हें समाज में नीचे और कम अधिकार की सहायिका माना जाता है। उनके जन्मगत इस भेद को दूर करने की नियति का इंतज़ार उन्हें भी है। इसके बाद मैंने एक-दो घर के बगीचे से संतरे तोड़े। किसी प्रकार का कोई रोक-टोक नहीं था क्योंकि शर्त यही थी कि आप चीज़ खराब न करें।

हम उस गाँव से आगे मेड़िया गांव गये, वहां स्थित 'बिदु-चाँदन पुस्तकालय' भी गए। वह छात्रों के लिए प्रतियोगी परीक्षा से लेकर खेलकूद तक के प्रशिक्षण की व्यवस्था मुफ़्त में करता है। यह पुस्तकालय उस गाँव में नौकरी करने वाले लोग अपने सहयोग से चलाते हैं। इस पुस्तकालय को किसी प्रकार की कोई सरकारी अनुदान नहीं मिलती है। विद्यार्थियों से भी कोई राशि नहीं ली जाती है। लगभग सात-आठ वर्षों से यह चल रहा है। मिरजा हाँसदा पुस्तकालय के एक कार्यकर्ता हैं जिनसे हमारी मुलाक़ात हुई। वे सरकारी विद्यालय के बच्चों को पढ़ाते हैं। 'बिदु-चाँदन' आदिवासी समाज में सरस्वती की तरह माने जाते हैं। मान्यता है कि संथाली भाषा की 'ओलचिकी' लिपि इन्होंने ही बनाई थी। बिदु-चाँदन प्रेमी-प्रेमिका थे। वे गाँव वालों से बचकर एक दूसरे से वार्तालाप के लिए दीवार पर कुछ प्रतीक चिह्न बनाते थे, जिसे केवल ये दोनों ही समझते थे। इस तरह 'ओलचिकी लिपि' का जन्म हुआ। पं. रामचंद्र मुर्मू ने सन्

1925 में संथाली भाषा की लिपि 'ओलचिकी' को सबके सामने प्रस्तुत किया था।

इसके बाद हमने गाँव में ग्राम सभा के प्रधान से मुलाक़ात की। उनसे बातचीत के दौरान गाँव के बहुत पुराने और वृद्ध व्यक्ति ने 'बिदु-चाँदन' के गीतों को अपने पारम्परिक वाद्य यंत्र 'बनम' बजा कर सुनाया। 'बनम' के तार घोड़े की पूँछ की बाल से बनते हैं। गाँव की व्यवस्था और सामाजिक नियमों पर चर्चा करते हुए स्त्रियों की भागीदारी में परिवर्तन की संभावनाओं को भी कुछ लोगों ने स्वीकार किया। कुछ लोग बिफर गए। उनका मत था कि परंपरा में बहुत से परिवर्तन को स्वीकार किया है परंतु ज़मीन, छत, हल एवं गैर– आदिवासी से विवाह पर महिलाओं को अधिकार देने से उनकी सारी परम्परा का आधार ही नष्ट हो जाएगा। वास्तव में पुरुषों के वर्चस्व के कुछ अंश ही बचे हैं जिन्हें वे बचाए रखना चाहते हैं।

वहाँ से हम भोजन के लिए गए। हमने पत्ते से बने पत्तल में भोजन किया। वहाँ किसी के भी घर बिना किसी की इजाज़त के जा सकते हैं। उनके सभी घर प्रायः मिट्टी के बने हुए थे। उन पर अपने पारम्परिक कलाकृतियों द्वारा दीवार सजाया गया था। घर के बाहर मिट्टी का चबुतरा बना हुआ था। उन्होंने दीमक से बचने के लिए पुआल और गोबर मिलाकर लीप रखा था। वे बैलों का प्रयोग छोटे-छोटे खेतों में करते हैं। ट्रैक्टर महिला चला सकती है परंतु पारम्परिक हल को हाथ लगाना भी अपराध माना जाता है। गाँव की मदईत व्यवस्था में नौकरी करने वाले युवाओं के कारण कमी आयी है। खेतों में काम करने वाले पुरुष उन महिलाओं की सहायता करते हैं, जिनके घर में पुरुष नहीं हैं। प्रत्येक घरों में वृद्ध, युवा, बच्चे थे। सामूहिकता एवं संयुक्त परिवार बने हुए थे। आदिवासी ग्रामीण पुरुष अपने ग्राम से जुड़े और खेती-बारी में रहना ज्यादा पसंद कर रहे हैं। वह खेती का समय न होने पर दिहाड़ी मज़दूरी के लिए गुजरात, बंगाल, राँची, केरल, कर्नाटक कुछ महीनों के लिए चले जाते हैं। या सरकारी योजना के तहत किसी काम में मज़दूरी करने लगते हैं, परंतु धन अर्जित करने के लिए पूरी तरह से शहरों का रुख नहीं करते हैं। वह खेती द्वारा जीविकोपार्जन चला रहे हैं। आँगन में ही सब्ज़ी उगाते हैं। केवल तेल, कपड़े और अन्य वस्तुओं के लिए बाज़ार की आवश्यकता महसूस करते हैं।

गाँव में सालगे जी के माता-पिता से भी मेरी मुलाक़ात हुई। वे नब्बे वर्ष से अधिक के हो गए हैं परंतु उनकी सक्रियता में बच्चों-सी चहक थी। उन्होंने बहुत स्नेह एवं प्रेम दिया। मुझे अपने आँगन के संतरे देते हुए उसे खाने का समय और शारीरिक उपयोगिता भी बताई। वे घर के बाहर तक छोड़ने भी आए। उन दोनों के चेहरे की चमक ने मुझे बहुत प्रभावित किया। उनकी हथेलियों को जब मैंने हाथ लगाया तब लगा काश, मेरे पास कोई जादू होता और उनकी हाथों में श्रम के जो महाकाव्य बने हैं, उन्हें मैं खींच लेती।

ग्राम सभा के सदस्यों से भेंट के दौरान कई वृद्ध महिलाएँ किनारे बैठी थीं। उन सभी ने अपने नाम द्वारा अपना परिचय दिया। कई महिलाएँ अपना नाम भूल गई थीं, उनका सोचते हुए अपना नाम बताना इसी का परिचायक है। वे अपने परिवार और दूसरे के लिए करने में इतना व्यस्त रहीं पूरे जीवन कि उन्हें अपना नाम तक याद नहीं। हम बाहर से जिस आदिवासी समाज को इतना सुंदर और सुसज्जित प्रगतिशील मानते हैं। महिलायें काम करती हैं ताकि जीवन में पैसे की कमी कम हो सके। ज़मीन पर हर हाल में पुरुषों का ही अधिकार है। उनकी मजबूरी है कि उन्हें पति, पिता, भाई के आश्रय में ही रहना है। उम्मीद है कि व्यवस्था कभी न कभी बदलेगी।

कई महिलाएँ अब अधिकार की और माँग नहीं कर रही हैं क्योंकि उन्हें घर-बाहर दोनों जगह अकेले काम करना पड़ रहा है। ज्यादतर पुरुष नशे में पड़े रहते हैं। यदि हल, छत, ज़मीन का अधिकार हमें मिल जाएगा तो पुरुष और भी कुछ नहीं करेंगे। महिलाएँ पढ़ाई से लेकर काम, अपने परिवार और खुद की आत्मनिर्भरता के लिए करती हैं। ज़मीन पर अधिकार न होने के कारण उनकी सारी मेहनत किसी अन्य के हाथ चली जाती हैं। महिलाओं का ज़मीन पर अधिकार नहीं, पुरुषों का ही संपत्ति पर अधिकार होता है। कमाल की बात है कि महिला राष्ट्रपति, मुख्यमंत्री, सांसद, विधायक होकर सत्ता संभालने का अधिकार प्राप्त कर लेती हैं परंतु उसे हल, छत, ज़मीन पर अधिकार नहीं है। ■

बिरूवार गमछा

रोज केरकेट्टा

दीपावली के पाँच दिन बीत गए। इसके बाद सुभागी को पति गणेश के साथ मायके जाने का अवसर मिला। वहाँ माँ-पिताजी और भाई-बहन ने जमकर बेटी-दामाद का सत्कार किया। पिता ने तो दो दिनों तक खेत का काम ही बंद रखा, बल्कि शकरकंद खोदने का नया काम शुरू किया, जिससे सारे परिवार को एक जगह रहने का अवसर मिला। भाई ने शकरकंद के दारों (मेड़ों) को जल्दी-जल्दी खोद दिया। माँ लताओं के कोमल पत्तों को तोड़ने लगी। वह उन्हें सुखाकर साग बनायेगी। सुभागी और बहन कलावती लताओं से शकरकंद तोड़-तोड़कर जमीन पर ढेर करते रहे। ससुर पंचम और दामाद एकाध शकरकंद तोड़ते, ज्यादा आपस में बातें करते। पूरे साल भर के बाद जो मिले हैं।

सुभागी दो दिनों के लिए मायके आयी है। पंचम बेटी-दामाद को देखकर बहुत खुश है। अपने समाज में पढ़ा-लिखा दामाद मिला है, परदेश में रहता है, पर बेटी तो साथ नहीं रहती। न जाने कैसे और क्या-क्या खाता होगा! उन्होंने सुभागी को पहुँचने के दिन ही कहा, 'दामाद परदेश में रहता है न, जाने कैसे कच्च-पक्का खाता होगा। तुम यहाँ उन्हें अपने हाथों से खिलाओ। सब कुछ घर का है। तुम जो चाहो, सो बनाओ।'

शंकर और सुभागी के घरों की आर्थिक स्थिति अलग-अलग है। परंतु शंकर पढ़ा-लिखा है और नौकरी करता है, वह आज के जमाने के साथ है।

रात को मुरगा बना। पंचम ने दामाद को ही मुरगा काटने की जिम्मेदारी दी। आदिवासी ग्रामीण समाज में दामाद को मुरगा बनाने में बहनोई का साथ दे रही थी। उसने बड़े लाड़ से भाटू से कहा, 'कलेजी, फोक्सा सबको पतपुरिया (पत्ते में लपेटकर अंगार में पकाना) बनाएँगे भाटू।

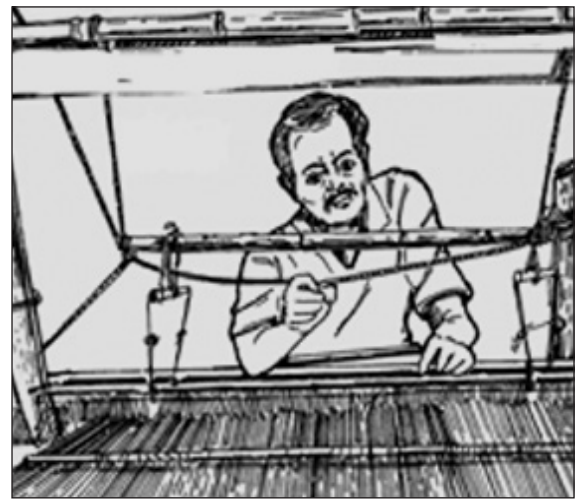

आप तो परदेस में इसका स्वाद भूल गए होंगे।'

गणेश, 'याद दिला दी मंइया तुमने उस स्वाद की। वहाँ तो बस वही लेढ़ी मुरगी। वह जैसा बैठी रहती है,वैसा ही खा के बैठे रहो। इसलिए हम वह सब नहीं खाते। हाँ, दूध-दही थोड़ा मिल जाता है।'

कलावती उत्साह से बोली, दूध-दही भेटाता है ? तब तो रासगोला भी खूब खाते होंगे न ?'

गणेश, 'नहीं खाता हूँ खूब। खाते रहूँगा ? कमाने गया हूँ, थोड़े न मजा गरने गया हूँ।'

गणेश बड़ाईक सूरत के कपड़ा मिल में नौकरी कर रहा है। पहले उसके दादा घूरन बड़ाईक भी कपड़ा बुनते थे, पर बहुत जल्दी समय बदला। उनके देखते-देखते धीरे-धीरे बरकी, पेछौरी, घोटिया,गमछा आदि को कोई नहीं देखने लगा। उनका पुश्तैनी धंधा लंगड़ाने लगा। बस बेतरा, गमछा और बिदौली (बेटी को बिदाई में देने वाला कपड़ा) साल भर में दो-चार बुनने को मिलता। बड़ा कठिन दिन आ गया। करधा-लुंडरी घर के एक कोने में मौन पड़े रहते। पति-पत्नी भूती कर दिन काटने लगे, तो भी उन्होंने इकलौते बेटे को

स्कूल भेजा। पर पेट प्रबल हो रहा था। पइकरा (गाँव द्वारा वार्षिक देय अनाज) बंद हो गया। भूती भी सिर्फ बरसात में मिलने लगा। घूरन अंदर-ही-अंदर जलने लगा और एक दिन पूरी तरह जल गया। अंतिम समय में बेटे मानकू का हाथ पकड़कर घूरन ने कहा, 'बेटा चूल्हा जले न जले, पेट सूखकर पीठ से चिपक जाए, तब भी करधा-लुंडरी को मत बेचना। न जलाना, न दीमक खाने देना। हमारे बुजुर्गों की यही आजीविका रही थी, आज हमारी पहचान है।' उन्हे अपने चीक बड़ाईक होने का बड़ा गर्व था।

घूरन की वत्नी रोते हुए बोली,'मुझे भी कुछ कहते जाओ मनकू के पिता। मैं रांड़ी रोही (विधवा) कैसे बच्चे को पालूँगी ?'

'यही बेटा तुम्हें भी पालेगा' कहते हुए उसने पत्नी का हाथ पकड़ा और लुढ़क गया।

मनकू तब पाँचवीं में था। माँ ने पति की बातों को गाँठ बाँध लिया। दो बकरियाँ बेचकर किसी तरह क्रिया-कर्म किया। कुछ दिनों तक पति को याद कर बिसूरती रही। करधे को देख अतीत जीवा हो जाती। विवाह के शुरूवाती दिनों में पाँच गाँव के घेरे में घूरन अकेला बुनकर था। लोग कपास उगाते थे, घर-घर में पास कपड़ा ले जाते। कमाई तो थी ही, इससे अधिक उसकी इज्जत थी, पर संतान नहीं थी। संतान के लिए कितनी दवा-दारू और मालिश करानी पड़ी। हैसियत थी, तभी तो यह सब करा सका, इसीलिए मैंने बेटे का नाम रखा मनकू। कितना मन था उसका कि बेटे को खूब पढ़ाएँगे।

अब भी चलानी सूत तो मिल जाता है। पर सेर्हुवा (छाल से बना रंग) नहीं मिलता। जंगल ही नहीं है। वहाँ तो हम चीक बड़ाईकों के दुश्मन आ गए। साल भर में जंगल और बड़े कारखाने बन गए। मुआ दुश्मनों ने काम करने वालों को बसा दिया। ये लोग करधे का कपड़ा छूकर भी नहीं देखते। दो नाली बंदूक जैसा वाला 'लोरापैंट' पहनते हैं। वर्षा का नाम नहीं। कपास कैसे हो ? सब गाँव वाले कुली हो गए, कुली। बेटा भी तो कहीं ऐसा ही कमाएगा। कुछो करे पर गाँव न छोड़े। करधा-लुंडरी के दिन गए। चाकरी ही करना है तो सोचना क्या कि कौन रंग, कौन सा डिजाइन !'

बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ है। मोटिया (करधे का बुना कपड़ा) गमछा और बिदौती बेटी को तो देते ही हैं। पर यह

माँ के सामने पिता के सपने थे, पर शीघ्र ही सपने की सच्चाई सामने आ गई। गाँव के भूमिहीन निवासियों की विवशता सामने आ गई। चीक-बड़ाईक, कुम्हारों और लोहराओं की कारीगरी को मिल और कारखाने निगल गए। जब किसानी ही नहीं रही तो कहाँ का सहयोग, किसका भाईचारा ! खेतों की जगह बड़े-बड़े फॉर्म बन गए। अरे फॉर्म तो सूअर मुरगी और कुत्तों तक के बन गए हैं। चाकरी के लिए किसी भी शरण में जाने के लिए लोग तैयार हो गए हैं।

माँ ने मनकू से कहा, करधा-लुंडरी को भीतर से छेक दे बेटा। परब-त्योहार,पूजा-पाठ में धूप-धुवन दिखा देंगे। कोने में सुरक्षित रहेगा, तुम्हारे पिता की इच्छा।' यह बोलते हुए रूआँसी हो गई।

मनकू ने ऐसा ही किया।

पाँचवीं तक पढ़ा मनकू जोड़-घटाव जानता था। शहर के महावीर साव के आटा चक्की में उसे पिसाई का काम मिल गया। मनकू ईतानदार था, वह काम को अच्छी तरह निपटाने लगा। प्रतिदिन दो रूपये और एक किलो आटा मजदूरी में मिलने लगा। माँ अपनी मुरगी-बकरी में लगी रही। कुछ समय बाद माँ ने बेटे का विवाह कर अपना धर्म निभाया। घर की चाबी बेटा-बहू को सौंपते समय अपने पति के निर्देश को भी उन्हें सौंप दिया। समय निकलता गया।

मनकू ने जाना कि आटा चक्की, नहीं, सोने की चिड़िया है। महावीर साव उसके देखते-ही-देखते महावीर सेठ कहलाने लगा। उसकी तोंद निकल आई। अब वह किसी के सामने आने पर तोंद को बनियान से नहीं ढकता।

मनकू को अपनी पढ़ाई पूरी न कर पाने का बड़ा रंज था। संयोग से उसे पहली संतान बेटा ही हुआ। बहुत सोच-बिचार के बाद उसका नाम उसने गणेश रखा। जिस दिन उसके बेटे का नामकरण किया, उसी दिन उसने ऐलान कर दिया कि बेटे को खूब पढ़ाएगा। बेटा पढ़ेगा, खूब पढ़ेगा, कारखाने में काम करेगा। अपने पिता के लिए आटा चक्की

बैठा देगा। उसके दिन बहुरेंगे। उसका विवाह पढ़ी-लिखी लड़की से होगा। धूमधाम से विवाह होगा। वह स्वयं पोती-पोता वाला हो जाएगा।

गणेश को मनकू ने पास कराया। शहर भेजकर इंटर करा दिया। रिजल्ट भी अच्छा रहा। गणेश भी अच्छा छात्र रहा। न खैनी, न दारू, न गुटका। किसी तरह का कोई दाग नहीं। घर में रहता, उस दिन माँ के काम करता, माँ सुस्ताती। कभी-कभी पिता के काम में हाथ बँटाता। तभी उसने जाना कि उसके पिता को कितना वजनदार बोरा उठाना पड़ता है, उसने गौर किया कि उनके पिता की कमर कमजोर हो रही है, उसकी चाल सामान्य नहीं रह गई है। अब उसके पढ़ाई छोड़ने और नौकरी ढूँढ़ने का दिन आ गया है। लेकिन जब काम की खोज में निकला, तब सारे प्रमाण-पत्र खोखले साबित हुए। उसका अब तक का निष्कलंक चरित्र किसी को प्रभावित न कर सका। वह खोज में ऊपर से नीचे हो गया। फौज में, क्लर्क में, पीयुन में, चपरासी में, सब में जरूरत थी किसी की सिफारिश की। सब में जरूरत थी जेब गरम करने की। इन दोनों के अभाव में गणेश अयोग्य प्रमाणित हुआ।

गणेश सोलहवें और सत्रहवें बसंत से गुजर रहा था। तब मिडिल की पढ़ाई सुभागी भी समाप्त कर रही थी। स्कूल अलग-अलग थे, गाँव भी अलग-अलग थे, पर चलने का रास्ता तो वही था, जिसमें चलकर दोनों स्कूल पहुँचते और घर वापस लौटते थे। बसंत की बौराई सुबह और बौराई शाम युवाओं में भी उमंग की तरंगें बहा रही थी। सुभागी और गणेश भी उसमें बहने को लालायित थे। एक ही शर्त थी कि अपने पैरों पर खड़ा हो जाऊँ। दोनों के परिवार सहमत थे, दोनों की बिरादरी एक, दोनों पढ़े-लिखे और दोनों शिष्टाचार का उल्लंघन नहीं करने वाले।

दो वर्ष भटकने के बाद गणेश ने गाँव छोड़ने का मन बनाया। तुड़काडीह के रमेश और कुदाहातू के लखू तीसरी कक्षा तक पढ़ाई करने के बाद बाहर चले गए थे। वहाँ उन्होंने नौकरी पा ली थी। गणेश ने उनके परिवार वालों से संपर्क किया। उन्होंने उसे बताया कि दीवाली की छुट्टियों में दोनों घर आएँगे। अब गणेश को उनसे मिलने के लिए पाँच महीना इंतजार करना पड़ेगा, क्योंकि दीवाली नवम्बर के शुरू मे है। एड्रेस लेकर गणेश ने अपनी योजना बता दी। उसे पूरा विश्वास था कि तीसरा पास युवक वहाँ काम पा सकता है, तो उसे भी अवश्य अच्छी नौकरी मिल जाएगी।

महावीर साव के यहाँ काम करते हुए मनकू को बाहर की आबोहवा का कुछ पता था। लगन देखकर उसने बेटे का विवाह सुभागी से कर दिया, पर यहाँ सिर्फ औपचारिकता निभाई गई। तसल्ली हुई कि बेटा सुरक्षित है।

सूरत में लखू और रमेश एक छोटे से कमरे में रहते थे। स्टोव पर खाना बनाना, गिनती के दो-चार बरतन और जमीन पर बिछावन। लखू और रमेश भाग्यश्री सूत मिल में काम करते थे। गणेश अपने सारे प्रमाण-पत्र ले आया था। उसने बाबू वाला काम ढूँढ़ना शुरू किया, पर हर जगह ऐसे काम के लिए जमानतदार चाहिए। झारखण्ड के आदमी को गुजरात में कहाँ से जमानतदार मिलेगा? थक- हारकर वह मिल में दरवान बन गया। उसने रात डयूटी चुना। मालिक इससे प्रसन्न हुआ, क्योंकि बाकी दरबान रात डयूटी से भागते थे। गणेश ने रात डयूटी पसंद की, क्योंकि मिल समुद्र के नजदीक था। दिन में दोनों दोस्त काम पर होते, तब वह आराम से चाल में सोता। सबसे खास था मिल में साफ-सुथरा टॉयलेट और नहाने को साफ पानी। वह छह बजते ही सुबह नहाकर मिल से बाहर आता। सीधे समुद्र तट की ओर जाता, वहाँ रात भर मछुआरे मछली मारने के बाद बड़े ठेकेदारों को बेचते होते। छोटे मछलियों को कोई नहीं खरीदता, मछुआरे उन्हें बालू में उड़ेल जाते। बाहर गणेश जैसे आए लोग चुनते। गणेश भी मछलियाँ जरूरत भर बीनकर लाता। इस नई व्यवस्था से दाल-सब्जीवाली व्यवस्था का समाधान हो गया। लखू और रमेश को भी थोड़ी समझ आई। मिल के अहाते से कुछ साग वगैरह ले आते। यह इसलिए संभव होता कि दूसरे लोग उसे खास जानते थे। यहाँ सूरत में रहकर साग, छोटी मछली और एक-एक पैसे की कीमत उन्होंने समझी।

एक वर्ष बाद जब गणेश ससुराल आया, तब वहाँ के सत्कार में अपने सूरत की दयनीय स्थिति को छिपा गया। लेकिन दूसरे वर्ष फिर छुट्टी में आया, तब सुभागी की गोद

में तीन महीने की बेटी थी। इस बार सुभागी के लिए कोई वजह नहीं थी कि अब भी वह पति से अलग रहे। दूध-दही की उपलब्धता के वर्णन से सुभागी को सूरत वास्तव में खूबसूरत लग रहा था। परियों का देश, जहाँ समुद्र है। समुद्र में छोटी और विशाल दोनों प्रकार की नावें चलती हैं, बसों और ट्रेनों से लोग सफर करते हैं।

जिधर भी जाओ, खाने-पीने की सामग्री मिल जाती है। लोग पैसा कमाते और सुखमय जीवन जीते हैं। सुभागी सुख पाने से क्यों वंचित रहे?

गणेश क्या करता? उसी ने सूरत की खूबसूरती का बखान किया था। आवास की कमी को सुभागी ने यह कहकर सिरे से खारिज कर दिया, 'यहाँ भी माँ-पिताजी के साथ हम दो कमरों में रहते हैं, वहाँ एक कमरे में गुजारा कर लेंगे।'

गणेश छोटा नहीं बनना चाहता था उसने मित्रों को सूचित कर दिया कि वह परिवार लेकर आ रहा है। मित्रों ने पहले तो सोचा कि यह कैसा मूर्ख है, लेकिन मदद तो करना ही था। सोचा, हो सकता है, कोई मजबूरी हो। उन दोनों ने बाहर के तीन फीट चौड़े और छह फीट लंबे बरामदेनुमा जगह को घेरकर अपने सोने लायक पटरा डाल दिया। मोटे तिरपाल से घेरकर दीवार बना ली।

सुभागी पहुँची। उसने पहली बार आँगन, गलियारों और पेड़-पौधों का मूल्य जाना। शायद इसे ही कुछ पाने के लिए 'खोना' कहते हैं। पाँच महीने बाद उसी चाल में एक कमरा मिल गया। लखू और रमेश ने उस कमरे को लेने में नजराना दिया, फिर रसोई के बरतन, बिछावन आदि खरीदने की बारी आई।

सप्ताह के अंत में सुभागी के साथ गणेश बाजार निकला। सुभागी ने घरवाले गमछे से बेटी को पीठ में बाँधा। यह देखते ही गणेश भड़क गया, बोला, 'इतने दिन गुजर गए, फिर भी देहातिन-की-देहातिन रह गई। खोलो बेतरा।'

सुभागी, 'मुझको इसी में आराम मिलता है, मैं ऐसे ही जाऊंगी।'

गणेश, क्या लगता है तुम्हें, पूरे रास्ते तुम लोगों का ध्यान खींचोगी !

कहाँ के जंगली लोग आ गए हैं ! यही सुनना चाहती हो ?'

सुभागी, 'जो कहें लोग, मुझे इसी में सुविधा मिलती है।'

'तो बेतरा कर ही चलोगी ?'

' हाँ।'

गणेश गुस्से से निकल गया। सुभागी को बेटी को पीठ में बाँधने, ताला लगाने में कुछ समय लगा। यह सब करने के बाद वह गणेश के पीछे दौड़ने लगी। सुभागी को दौड़ती जान गणेश की चाल तेज हो गई। आखिर सुभागी दस कदम पीछे ही चलने लगी।

रास्ते में एक महिला ने सुभागी को टोक दिया,'बच्चे को ऐसे मत बाँधो, साँस छूट जाएगी।'

सुभागी ने बच्ची को सामने किया, फिर बिना कुछ बोले आगे बढ़ गई। वह महिला बुदबुदाती रह गई। सुभागी को अब डर लगने लगा कि कहीं भटक न जाए! वह भीड़ भरी सड़क में धक्के खाती, धक्के मारती आगे बढ़ने लगी। तभी गणेश ने उससे कहा, 'रूको।'

सुभागी रूक गई, ठंढ के मौसम में भी वह पसीने-पसीने हो गई थी। रूकी तो खड़ी हो हाँफने लगी। गणेश असमंजस में पड़ गया। सुभागी को रोकने के पीछे उसका इरादा उसे डाँटने का था। पर उसकी हालत देख उसे दया आ गई। वह सुभागी को एक चाय की दुकान पर ले गया। चाय पीने के बाद हल्के-फुल्के सामानों की खरीददारी हुई, फिर दोनों लौट गए। रास्ते में वही दो कदम आगे-पीछे चुप-चुप चलते रहे।

दो दिनों तक दोनों तने रहे।

घर, रसोई का बरतन तो लेना ही था। आखिर गणेश ने ही चुप्पी तोड़ी। कहा, अगले शनिवार बरतन ले लेंगे, जल्दी जाएँगे।'

शनिवार आया। दोनों के रवैये में काई फर्क नहीं आया था। दोनों दस कदम की दूरी बनाकर चल रहे थे। उसी देहाती गमछे से बच्ची पीठ में बँधी थी। उस दिन भी राह चलती महिला ने टोका। बड़ी तीखी आवाज में बोली,

'हाय दैया ... देखो तो बच्चे की सूरत बिगाड़ रही है ! ये नाक रगड़ खाकर घिस रही है।'

सुभागी ने बच्ची को पीठ से उतारा। जोर देकर बोली, 'कहाँ घिस रही है नाक ? इसकी नाक ही ऐसी है। देखिए नाक घिसती तो बच्ची रोती ! ये तो चुप है।' कहते हुए फिर से पीठ पर बाँध लिया।

गणेश सामने दुकान के बरामदे में खड़ा था। सुभागी के निकट जाते ही वह दुकान के अंदर घुस गया। दुकान बहुत बड़ी थी। कई बेंचें लगी थीं, जिनपर लोग बैठे थे। दुकानदार और उसके कर्मचारी व्यस्त थे। एक बेंच पर पति-पत्नी बैठे थें। महिला सुभागी को देखकर हँस रही थी। उसके चेहरे का भाव परिचित होने का था। सुभागी को देख उसने इशारे से बुलाया और बगल में बैठने को कहा। जब वह बैठने लगी, उसने पूछा, 'आप लोग झारखण्ड के हैं क्या ? राँची के हैं ?'

सुभागी बच्ची को गोद में लेते हुए उसे आश्चर्य से देखने लगी। पर बोली कुछ नहीं। तब भी महिला मुस्कुराती रही। कुछ पल यूँ ही बीते। तब गणेश ने कहा, 'हाँ, पर कैसे पहचाना? आपसे तो हमारी भेंट भी नहीं हुई है?'

महिला, 'देखकर ही पहचान गए हम दोनों। हम भी उधर के ही हैं।'

गणेश अश्वस्त हुआ। सुभागी भी मुस्कुराई।

महिला आगे बोली, 'आओ, बाहर बात करते हैं।'

बाहर आते ही उसने बोलना शुरू किया, 'ये मेरे पति हैं, सुबोध मांझी।

सब इनको सुबोध दा, चाहे मांझी दा बोलते हैं। राँची के ही हैं, सिरमटोली के। मैंने भी राँची में ही पढ़ाई की है, मेरा नाम सुशीला है। हमें यहाँ आए पच्चीस वर्ष हो गए। यहीं पास में ही हमें क्वार्टर मिला है। ये ऑर्डिनेन्स फैक्टरी में ड्राइवर हैं, मिलिटरी कैंपस है।'

तभी सुबोध दा ने उनको अंदर बुला लिया।

'आपने मुझे कैसे पहचाना ? मुझे तो यहाँ आए सिर्फ छह महीना हुआ है ? अभी तक घर में अच्छा स्टोव भी नहीं है।'

महिला खिलखिलाकर हँसी, बोली, 'अपने लोगों को पहचानने में क्या दिक्कत है ? घर पास ही क्रेसेंट रोड में है। चलिए देख लीजिएगा, बच्चे भी घर पर हैं, मिल लीजिएगा।'

गणेश तुरन्त के परिचय में घनिष्टता नहीं चाह रहा था, परंतु सुभागी अपने एकाकीपन से त्रस्त थी, वह चलने को तैयार हो गई।

मांझी के चार बच्चे थे। बड़ी बेटी टीचर थी। वे घर पर हिन्दी बोलते थे। बाहर फर्राटेदार गुजराती। बड़ी बेटी बुला बोली, 'आंटी, मैं नाना-नानी के घर गई, तब ग्यारह वर्ष की थी। आज बीस वर्ष की हूँ, बताइए तो कितना तरसता है मन वहाँ जाने को ? एक ही देश में रहते हैं, पर अपनों से मिल नहीं पाते।'

सुभागी, 'मैं समझ रही हूँ तुम्हारी बात। अब यहाँ कम-से-कम हमारे पास आया करो। हमारे साथ उधर के ही दो आदमी और हैं।'

बुला, 'कहाँ पर हैं ?'

गणेश,'मगन भाई बिस्कुटवाला।' फैक्टरी की बगल में लावन्य बाई कुंजन बाई गली में।'

गणेश शाम को परिवार के साथ लौट गया। सुभागी प्रफुल्लित थी। वह आए दिन खरीददारी के नाम पर निकलती। एक दिन होटल के सामने दरबान की नजर उसपर पड़ी। दरबान ने उसे टोका, 'राँची के हैं क्या ?'

'कैसे पहचाना ?'

'बिरूवार गमछा देखकर, ऐसा गमछा उधर वालों के पास ही होता है।'

उस गमछे के कारण झारखण्डियों की पहचान बढ़ी। सब चालों या आउट हाउसों में रहते थे। सिर्फ मांझी का तीन कमरों वाला क्वार्टर था। पर्व -त्योहारों में लोग उन्हीं के घर जमा होने लगे। वे सबके संरक्षक बन गए। पहले सूरत में दिन काटना पेट की मजबूरी थी, अब उसमें रस की सूक्ष्म धारा बहने लगी। पर उस आनंद को भी नजर लग गई।

गोधरा रेलवे स्टेशन धू-धू कर जल उठा। आग की चपेट में पूरा गुजरात आ गया। सूरत, जहाँ देश के कोने-कोने से लोग पेट की खातिर जुटे थे, सब तितर-बितर हो गए। झारखण्ड के लोग बिरूवार गमछा के माध्यम

से आपस में मिल रहे थे, सब बिखर गए। 'मगन भाई बिस्कुटवाला 'फैक्टरी में भी आग लग गई। आस-पास के चालों के उपर कहर बरपा। कौन किधर जाएँगे, किसी को नहीं पता। फौजियों की गाड़ियाँ निकलीं, पर सड़को पर तो पुलिस का पहरा था। पुलिस के जवान लाठी थामें आगजनी को टुकुर-टुकुर तो रहे थे। ताक रहे थे। 'लावण्य बाई कुंजन बाई गली' में बिस्कुट फैक्टरी के ही मजदूर अधिक थे। वे सब हाय-हाय करते हुए भाग रहे थे। चारों ओर भगदड़ मची थी। अचानक उसी समय ऑर्डिनेंस फैक्टरी की गाड़ी उसी ओर आई।

फैक्टरी की गाड़ी आकर सुभागी के चाल के सामने खड़ी हो गई। सुबोध दा उतरे। सुभागी उससे लिपटकर रोने लगी। सुबोध दा ने उसे 'जल्दी चढो' कहा। तब तक चाल की पाँच औरतें बच्चों संग चढ़ गई। फिर सुभागी बेटी के साथ चढ़ी। पुलिस के सिपाही मटरगश्ती कर रहे थे, वे आवाक् फौजी गाड़ी को देखने लगे। इनके सामने फौजी गाड़ी की यह हिम्मत ? वे दौड़कर पहुँचते, इससे पहले ही गाड़ी सीधे चली और मिलिटरी कैंप में घुस गई।

कैंप में भी हड़कंप मच गया। मांझी के पड़ोसी इन लोगों के लाए जाने से क्रोधित थे। वे मांझी से लड़ने लगे, हाथापाई तक हुई। कैंप के बड़े अफसर को सूचना दी गई। वे आए, उन्होने आकर बाकि लोगों को राहत कैंप पहुँचाया। गणेश का परिवार वहीं रह गया।

सूरत को शांत होने में समय लगा। इस घटना से गणेश विचलित हो गया। सुभागी गाँव लौटने की जिद करने लगी। गणेश जानता था, पर लौटना भी बेवकूफी होगी, यहाँ कम-से-कम पेट भर रहा है। पिता की मदद कर पा रहे हैं, पर सुभागी कैसे समझे ?

सुबोध दा और सुशीला दी के साथ प्रतिदिन रात को विमर्श होता। सुबोध दा गाँव को भी अच्छी तरह समझते थे। दुनिया को भी समझ रहे थे। उन्होंने समझाया,'अब देश के किसी कोने में सुख-चैन नहीं है। हम इतने राँचियर मिलकर आपस में एक-दूसरे के लिए चैन की बात सोच सकते हैं। दंगा, महँगाई, ठगी और कष्ट हर जगह है। घर और पानी की किल्लत, अकाल और अन्याय हम सबके लिए चुनौती है। यह चुनौती सबके लिए हमेशा रहेगी। इसी का मुकाबला करने के लिए हमने गाँव छोड़ा है। अब चुनौती का मुकाबला करना ही बेहतर है।' सुभागी को गणेश ने अपने दो वर्ष के खालीपन को याद कराया।

अब लोग काम पर लौटने लगे हैं। एक दिन सुशीला दी ने कहा, 'गणेश हमारे पास हमारी पहचान यह बिरूवार गमछा है। तुम लोग इसे लेकर आए। इस गमछे के कारण हम इतने लोग आपस में मिल सके।'

सुबोध दा, 'सच में पच्चीस वर्षों तक हमे यहाँ रहने के बाद भी गाँव को टीस तो थी ही। अब हम यहाँ अपनों के बीच फिर से हो गए हैं।'

सुशीला,'सच में सब मिलकर एक बड़े परिवार की तरह रह रहे हैं। है न ? 'इसके बाद सुभागी का मन स्थिर हुआ।

एक महीना बाद मनकू को एक लिफाफा मिला। वह गणेश का पत्र था, जो उसने पिता को भेजा था। पत्र में अपने सुरक्षित होने का जिक्र था, दंगे के दौरान की थोड़ी चर्चा थी। परंतु आगे विशेष चर्चा थी, 'मैं अपने महान् दादा जी को जोहार करता हूँ। आज समझता हूँ कि वे कितने दूरदर्शी थे ! उन्होंने कहा था, 'करधा-लंडरी हमारी पहचान है, 'इस बिरूवार गमछे ने इस अनजान शहर में हमारी पहचान बनाई, हमारी जान बचाई। इस गमछे के नीचे हम उधर के लोग इकट्ठे हो सके। अब सुख-दुःख में सब एक-दूसरे के साथ हैं।

'पिताजी, मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि थोड़ा समय निकालकर ऐसा गमछा बुनते रहें, यहाँ उसकी माँग है। मैं अपने चीक बड़ाईक होने को अपनी खुशनसीबी मानता हूँ। हमारा गमछा अनमोल है, मैं आपका बेटा होने और दादाजी का पोता होने का गर्व करता हूँ। आपको और माँ को हम सब जोहार करते हैं।

आपका बेटा

गणेश'

पत्रांत करते हुए गणेश की आँखों से दो बूँद आँसू टपके थे।

पिता ने पुत्र के उस स्थान को चूम लिया। ■

हजारीबाग की दीवार कला आदिवासी समुदायों के सांस्कृतिक मूल्यों, परंपराओं, अनुष्ठानों और कहानियों के साथ गहरे और सम्मानजनक संबंधों को बयां करती है, जो सदियों से उन्हें एकजुट करती आई हैं। प्रत्येक वर्ष, विवाह और फसल के मौसम के दौरान, हजारीबाग की महिला चित्रकार अपने घरों की मिट्टी की दीवारों पर प्रवेश करने वाले वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं को प्यार से जीवन देती हैं। प्रतीकों और परंपराओं के रखवाले के रूप में, उनकी आकांक्षा आने वाली पीढ़ियों के लिए आदिवासी चेतना और उनके लोककथाओं और जीवनशैली की गहरी सामंजस्य को बनाए रखने की है।